ज्ञानयोग पर प्रवचन



स्वामी विवेकानन्द

ज्ञानयोग पर प्रवचन

स्वामी विवेकानन्द

रामकृष्ण मठ
नागपुर

प्रकाशक :
स्वामी ब्रह्मस्थानन्द
अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ
रामकृष्ण आश्रम मार्ग
धन्तोली, नागपुर-४४० ०१२

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प ६८

वर्ष १९६५ से २०१२ तक : ७३,६००
तेरहवाँ पुनर्मुद्रण : २०.६.२०१३
मुद्रित प्रतियाँ : ६०००

मुद्रक :
लक्ष्मी ऑफसेट, नागपुर

मूल्य : रु. १२.००

प्रस्तावना

(प्रथम संस्करण)

स्वामी विवेकानन्दजी ने अमरीका में रहते समय ज्ञानयोग पर कुछ प्रवचन दिये थे जो उनकी एक शिष्या कुमारी एस्. ई. वाल्डो ने लिपिवद्ध कर लिये थे। तत्पश्चात् स्वामीजी के गुरुभाई स्वामी सारदानन्द सन् १८९६ ई. में जव वेदान्तप्रचार हेतु अमरीका गये तव उन्होंने ये प्रवचन कु. वाल्डो की नोटवुक से लिख लिये। इन प्रवचनों के साथ स्वामी विवेकानन्दजी के अन्य दो प्रवचनों 'ज्ञानयोग का परिचय' तथा 'ज्ञानसाधना' का सारांश सम्मिलित कर प्रस्तुत पुस्तक "ज्ञानयोग पर प्रवचन" सहर्ष पाठकों के सम्मुख रख रहे हैं।

स्वामीजी ने ज्ञानयोग का विवेचन उपनिषद् तथा भगवद्गीता के आधार पर किया है और इस प्रकार इन प्रवचनों में उन्होंने यह स्पष्ट दर्शाया है कि ज्ञानयोग साधक को किस तरह मुक्ति के लक्ष्य की ओर ले जाता है। साथ ही उन्होंने यह भी वड़े सरल ढंग से वतला दिया है कि ज्ञानयोग के मार्ग में सफल होने के लिए किन गुणों तथा साधना की आवश्यकता है। इस ज्ञानयोग का अनुसरण कर आत्मज्ञान में प्रतिष्ठित हो शाश्वत सुख की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है, इसका दिग्दर्शन भी स्वामीजी ने बड़े सुन्दर एवं युक्तियुक्त रूप से किया है। आदर्श जीवनगठन के लिए ज्ञानयोग किस रूप से उपयुक्त है, इस सम्वन्ध में स्वामी विवेकानन्दजी के ओजपूर्ण विचार सभी का निश्चित मार्गदर्शन करेंगे।

ये प्रवचन अद्वैत आश्रम, मायावती द्वारा प्रकाशित "विवेकानन्द साहित्य" से संकलित किये गये हैं।

नागपुर
दि. १.६.१९६५

— प्रकाशक

अनुक्रमणिका

ज्ञानयोग पर प्रवचन

——:o:——

ज्ञानयोग का परिचय

यह योग का बौद्धिक और दार्शनिक पक्ष है और वहुत कठिन है, किन्तु मैं आपको इससे धीरे-धीरे अवगत कराऊँगा।

योग का अर्थ है, मनुष्य और ईश्वर को जोड़ने की पद्धति। इतना समझ लेने के वाद आप मनुष्य और ईश्वर की अपनी परिभाषाओं के अनुसार चल सकते हैं। और आप देखेंगे कि योग शब्द हर परिभाषा के साथ ठीक बैठ जाता है। सदा याद रखिये कि विभिन्न मानसों के लिए विभिन्न योग हैं और यदि एक आपके अनुकूल नहीं होता तो दूसरा हो सकता है। सभी धर्म, सिद्धान्त और व्यवहार में विभाजित हैं। पाश्चात्य मानस ने सिद्धान्त पक्ष को छोड़ दिया है और वह शुभ कर्मों के रूप में धर्म के केवल व्यावहारिक भाग को ही ग्रहण करता है। योग धर्म का व्यावहारिक भाग है और यह प्रदर्शित करता है कि धर्म शुभ कर्मों के अतिरिक्त एक व्यावहारिक शक्ति भी है।

उन्नीसवीं शताव्दी के प्रारम्भ में मनुष्य ने बुद्धि के द्वारा ईश्वर को पाने की चेष्टा की और फलस्वरूप ईश्वरवाद की उत्पत्ति हुई। इस प्रक्रिया से जो कुछ थोड़ा-वहुत ईश्वर वचा, उसको डार्विनवाद और मिलवाद ने नष्ट कर दिया। लोगों को तव तुलनात्मक और ऐतिहासिक धर्म की शरण में जाना पड़ा। वे समझते थे कि धर्म की उत्पत्ति तत्वों की पूजा से हुई। (द्रष्टव्य सूर्य सम्वन्धी कथाओं आदि पर मैक्समूलर)। दूसरे लोगों की धारणा थी कि धर्म पूर्वजों की पूजा से निकला है। (द्रष्टव्य हर्वर्ट स्पेन्सर)। किन्तु

सम्पूर्णतः ये पद्धतियाँ असफल सिद्ध हुईं। मनुष्य वाह्य पद्धतियों से सत्य तक नहीं पहुँच सकता।

'यदि मैं मिट्टी के एक टुकड़े को जान लूँ तो मैं मिट्टी की सम्पूर्ण राशि को जान लूँगा।' सारा विश्व इसी योजना पर बना है। व्यक्ति तो मिट्टी के एक टुकड़े के समान केवल एक अंश है। यदि हम मानव आत्मा के, जो कि एक अणु है, प्रारम्भ और सामान्य इतिहास को जान लें तो हम सम्पूर्ण प्रकृति को जान लेंगे। जन्म, वृद्धि, विकास, जरा, मृत्यु – सम्पूर्ण प्रकृति में यही क्रम है और यह वनस्पति तथा मनुष्य में समान रूप से विद्यमान है। भिन्नता केवल समय की है। पूरा चक्र एक दृष्टान्त में एक दिन में पूर्ण हो सकता है और दूसरे में ७० वर्ष में, पर ढंग एक ही है। विश्व के विश्वसनीय विश्लेषण तक पहुँचने का एकमात्र मार्ग स्वयं हमारे मन का विश्लेषण है। अपने धर्म को समझने के लिए एक सम्यक् मनोविज्ञान आवश्यक है। केवल बुद्धि से ही सत्य तक पहुँचना असम्भव है, क्योंकि अपूर्ण बुद्धि स्वयं अपने मौलिक आधार का अध्ययन नहीं कर सकती। इसलिए मन को अध्ययन करने का एकमात्र उपाय तथ्यों तक पहुँचने का है, तभी बुद्धि उन्हें विन्यस्त करके उनसे सिद्धान्तों को निकाल सकेगी। बुद्धि को घर बनाना पड़ता है, पर बिना ईंटों के वह ऐसा नहीं कर सकती, और वह ईंटें बना नहीं सकती। ज्ञानयोग तथ्यों तक पहुँचने का सब से निश्चित मार्ग है।

मन के शरीर-विज्ञान को लें। हमारी इन्द्रियाँ हैं, जिनका वर्गीकरण ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में किया जाता है। इन्द्रियों से मेरा अभिप्राय वाह्य इन्द्रिय-यन्त्रों से नहीं है। मस्तिष्क में नेत्र-सम्बन्धी केन्द्र दृष्टि का अवयव है, केवल आँख नहीं। यही बात हर अवयव के सम्बन्ध में है, उसकी क्रिया आभ्यन्तरिक होती है, केवल मन में प्रतिक्रिया होने पर ही विषय का वास्तविक प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्षीकरण के लिए पेशीय और संवेद्य नाड़ियाँ आवश्यक हैं।

उसके बाद स्वयं मन है। वह एक स्थिर जलाशय के समान है, जो कि आघात किये जाने पर, जैसे पत्थर द्वारा, स्पन्दित हो उठता है। स्पन्दन

एकत्र होकर पत्थर पर प्रतिक्रिया करते हैं, जलाशय भर में वे फैलते हुए अनुभव किये जा सकते हैं। मन एक झील के समान है, उसमें निरन्तर स्पंदन होते रहते हैं, जो उस पर एक छाप छोड़ जाते हैं। और अहं या व्यक्तिगत स्व या मैं का विचार इन स्पन्दनों का परिणाम होता है। इसलिए यह 'मैं' शक्ति का अत्यन्त द्रुत संप्रेषण मात्र है, वह स्वयं सत्य नहीं है।

मस्तिष्क का निर्मायक पदार्थ एक अत्यन्त सूक्ष्म भौतिक यन्त्र है, जो प्राण धारण करने में प्रयुक्त होता है। मनुष्य के मरने पर शरीर मर जाता है, किन्तु अन्य सब कुछ नष्ट हो जाने के वाद मन का थोड़ा भाग, उसका वीज वच जाता है। यही नये शरीर का बीज होता है, जिसे सन्त पाल ने 'आध्यात्मिक शरीर' कहा है। मन की भौतिकता का यह सिद्धान्त सभी आधुनिक सिद्धान्तों से मेल खाता है। जड़ व्यक्ति में वुद्धि कम होती है, क्योंकि उसका मस्तिष्क पदार्थ-आहत होता है। बुद्धि भौतिक पदार्थ में नहीं हो सकती और न वह पदार्थ के किसी संघात द्वारा उत्पन्न की जा सकती है। तव बुद्धि कहाँ होती है? वह भौतिक पदार्थ के पीछे होती है, वह जीव है, भौतिक यन्त्र के माध्यम से कार्य करनेवाली आत्मा है। विना पदार्थ के शक्ति का संप्रेषण सम्भव नहीं है, और चूँकि जीव एकाकी यात्रा नहीं कर सकता, मृत्यु के द्वारा और सब कुछ ध्वस्त हो जाने पर मन का एक अंश संप्रेषण के माध्यम के रूप में बच जाता है।

प्रत्यक्ष कैसे होता है? सामने की दीवार एक प्रभाव-चित्र मुझे भेजती है, किन्तु जब तक कि मेरा मन प्रतिक्रिया नहीं करता, मैं दीवार नहीं देखता। अर्थात् मन केवल दृष्टि मात्र से दीवार को नहीं जान सकता। जो प्रतिक्रिया मनुष्य को दीवार के प्रत्यक्ष की क्षमता देती है, वह एक बौद्धिक प्रक्रिया है। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व हमारी आँखों और मन (प्रत्यक्षीकरण की आन्तरिक शक्ति) द्वारा देखा जाता है; वह हमारी अपनी व्यक्तिगत वृत्तियों द्वारा निश्चित रूप से रँग जाता है। वास्तविक दीवार या वास्तविक विश्व, मस्तिष्क के वाहर होता है और अज्ञात तथा अज्ञेय होता है। इस विश्व को 'क' कहिये और हमारा कहना है कि दृश्य जगत् होगा 'क' + मन।

जो बाह्य जगत् के लिए सत्य है, वही आभ्यन्तर जगत् पर भी अवश्य लागू होना चाहिए। मन भी अपने को जानना चाहता है, किन्तु यह आत्मा केवल मन के माध्यम से जानी जा सकती है और दीवार की ही तरह अज्ञात है। इस आत्मा को हम 'ख' कह सकते हैं और तब कथन इस प्रकार होगा कि 'ख' + मन अभ्यन्तर अहं है। सर्वप्रथम काण्ट मस्तिष्क के इस विश्लेषण पर पहुँचे थे, किन्तु वेदों में यह बहुत पहले कहा जा चुका था। इस प्रकार चाहे जैसा भी वह हो, हमारे पास 'क' और 'ख' के बीच में मन उपस्थित है और दोनों पर प्रतिक्रिया कर रहा है। यदि 'क' अज्ञात है तो जो भी गुण हम प्रदान करते हैं, वे हमारे अपने ही मस्तिष्क से उद्भूत होते हैं। देश, काल और कारणता वे तीन उपाधियाँ हैं, जिनके मध्य मन को प्रत्यक्ष होता है। काल विचार के संप्रेषण की उपाधि है और देश अधिक स्थूल पदार्थ के स्पन्दन के लिए है, कारणता वह अनुक्रम है, जिसमें वे स्पन्दन आते हैं। मन को केवल इन्हीं के द्वारा बोध हो सकता है। अतएव मन से परे की कोई भी वस्तु देश, काल और कारणता से परे अवश्य होगी।

अन्धे व्यक्ति को जगत् का प्रत्यक्ष स्पर्श और ध्वनि द्वारा होता है। हम पंचेन्द्रियवाले लोगों के लिए यह एक भिन्न ही जगत् है। यदि हममें से कोई विद्युत्-संवेदना का विकास करे और विद्युत् लहरों को देखने की योग्यता प्राप्त कर ले तो संसार भिन्न दिखायी देगा। तथापि 'क' के रूप में जगत् है, इन सब के लिए समान है। चूँकि हर एक अपना पृथक् मन लाता है, वह अपने विशेष संसार को ही देखता है। 'क' + एक इन्द्रिय, 'क' + दो इन्द्रियाँ और इसी प्रकार, जैसा कि हम मनुष्य को जानते हैं, पाँच तक हैं। परिणाम निरन्तर विविधतापूर्ण होता है, किन्तु 'क' सदैव अपरिवर्तित रहता है। 'ख' भी हमारे मानसों से निरन्तर परे होता है और देश, काल तथा कारणता से परे है।

पर आप पूछ सकते हैं, 'हम कैसे जानते हैं कि दो वस्तुएँ हैं (क और ख) जो देश, काल और कारणता से परे हैं?' बिल्कुल सत्य है कि काल विभेदीकरण करता है जिससे यदि दोनों वास्तव में काल से परे हैं,

तो उन्हें वास्तव में अवश्य ही एक होना चाहिए। जब मन इस एक को देखता है, वह उसे भिन्न नाम से पुकारता है – 'क' जब वह वाह्य जगत् होता है और 'ख' जब वह आभ्यन्तर जगत् होता है। इस इकाई का अस्तित्व है और उसे मन के लैंस से देखा जाता है।

हमारे समक्ष सर्वत्र व्यापक रूप से प्रकट होनेवाली परिपूर्ण सत्ता ईश्वर, ब्रह्म है। विभेदीकरणरहित दशा ही पूर्णता की दशा है, अन्य सब अस्थायी और निम्नतर होती हैं।

विभेदरहित सत्ता मन को विभेदयुक्त क्यों प्रतीत होती है? यह उसी प्रकार का प्रश्न है, जैसा यह कि अशुभ और इच्छा-स्वातन्त्र्य का स्रोत क्या है? प्रश्न स्वयं आत्मविरोधी और असम्भव है, क्योंकि प्रश्न कार्य और कारण को स्वयंसिद्ध मान लेता है। अविभेद में कारण और कार्य नहीं होता, प्रश्न यह मान लेता है कि अविभेद उसी स्थिति में है, जिसमें कि विभेदयुक्त 'क्यों' और 'कहाँ से' केवल मन में होते हैं। आत्मा कारणता से परे है और केवल वही स्वतन्त्र है। यह उसी का प्रकाश है, जो मन के हर रूप से झरता रहता है। हर कार्य के साथ मैं कहता हूँ कि मैं स्वतन्त्र हूँ, किन्तु हर कार्य सिद्ध करता है कि मैं बद्ध हूँ। वास्तविक आत्मा स्वतन्त्र है, किन्तु मस्तिष्क और शरीर के साथ मिश्रित होने पर वह स्वतन्त्र नहीं रह जाती। संकल्प या इच्छा इस वास्तविक आत्मा की प्रथम अभिव्यक्ति है, अतएव इस वास्तविक आत्मा का प्रथम सीमाकरण संकल्प या इच्छा है। इच्छा, आत्मा और मस्तिष्क का एक मिश्रण है। किन्तु कोई मिश्रण स्थायी नहीं हो सकता। इसलिए जब हम जीवित रहने की इच्छा करते हैं, हमें अवश्य मरना चाहिए। अमर जीवन परस्परविरोधी शब्द हैं, क्योंकि जीवन एक मिश्रण होने से स्थायी नहीं हो सकता। सत्य सत्ता अभेद और शाश्वत है। यह पूर्ण सत्ता सभी दूषित वस्तुओं, इच्छा, मस्तिष्क और विचार से किस प्रकार संयुक्त हो जाती है? वह कभी संयुक्त या मिश्रित नहीं हुई है। तुम्हीं वास्तविक तुम हो (हमारे पूर्वकथन के 'ख'), तुम कभी इच्छा न थे, तुम कदापि नहीं बदले हो, एक व्यक्ति के रूप में कभी तुम्हारा अस्तित्व न था; यह भ्रम है। तब आप कहेंगे

कि भ्रम के गोचर पदार्थ किस पर आश्रित हैं? यह एक कुप्रश्न है। भ्रम कभी सत्य पर आश्रित नहीं होता, भ्रम तो भ्रम पर ही आश्रित होता है। इन भ्रमों के पूर्व जो था, उसी पर लौटने के लिए, सचमुच स्वतन्त्र होने के लिए, हर वस्तु संघर्ष कर रही है। तब जीवन का मूल्य क्या है? वह हमें अनुभव देने के निमित्त है। क्या यह विचार विकासवाद की अवहेलना करता है? नहीं, इसके विपरीत वह उसे स्पष्ट करता है। विकास वस्तुतः भौतिक पदार्थ के सूक्ष्मीकरण की प्रक्रिया है, जिससे वास्तविक आत्मा को अपनी अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है। वह हमारे और किसी अन्य वस्तु के बीच किसी पर्दे या आवरण जैसा है। पर्दे के क्रमशः हटने पर, वस्तु स्पष्ट हो जाती है। प्रश्न केवल उच्चतर आत्मा की अभिव्यक्ति का है।

□□□

प्रथम प्रवचन

ॐ तत् सत्! ॐ का ज्ञान विश्व के रहस्य का ज्ञान प्राप्त कर लेना है। ज्ञानयोग का उद्देश्य वही है जो भक्तियोग और राजयोग का है, किन्तु प्रक्रिया भिन्न है। यह योग दृढ़ साधकों के लिए है; उनके लिए है जो न तो रहस्यवादी, न भक्तिमान, अपितु बौद्धिक हैं। जिस प्रकार भक्तियोगी प्रेम और भक्ति के द्वारा उस सर्वोपरि परम से पूर्ण एकता की सिद्धि का अपना मार्ग ढूँढ़ निकालता है, उसी प्रकार ज्ञानयोगी विशुद्ध बुद्धि के द्वारा ईश्वर के साक्षात्कार का अपना मार्ग प्रशस्त करता है। उसे सभी पुरानी मूर्तियों को, सभी पुराने विश्वासों और अन्धविश्वासों को और ऐहिक या पारलौकिक सभी कामनाओं को निकाल फेंकने के लिए तत्पर रहना चाहिए और केवल मोक्ष-लाभ के लिए कृतनिश्चय होना चाहिए। ज्ञान के विना मोक्ष-लाभ नहीं हो सकता है। वह तो इस उपलब्धि में निहित है कि हम यथार्थतः क्या हैं और यह कि हम भय, जन्म तथा मृत्यु से परे हैं। आत्मा का साक्षात्कार ही सर्वोत्तम श्रेयस् है। वह इन्द्रियों और विचार से परे है। वास्तविक 'मैं' का तो ज्ञान नहीं हो सकता। वह तो नित्य ज्ञाता (विषयी) है और कभी भी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान सापेक्ष का होता है, निरपेक्ष पूर्ण का नहीं। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सभी ज्ञान ससीम है – वह कार्य और कारण की एक अन्तहीन शृंखला है। यह संसार एक सापेक्ष संसार है, यथार्थ सत्य की छाया या आभास मात्र है; तथापि चूँकि यह (संसार) संतुलन का ऐसा स्तर है कि जिस पर सुख-दुःख प्रायः समान रूप से संतुलित हैं, इसलिए यही एक स्तर है जहाँ मनुष्य अपने यथार्थ स्वरूप का साक्षात् कर सकता है और जान सकता है कि वह ब्रह्म है।

यह संसार 'प्रकृति का विकास और ईश्वर की अभिव्यक्ति है'। वह

माया या नाम-रूप के माध्यम से देखे हुए परमात्मा या ब्रह्म की हमारी व्याख्या है। संसार शून्य नहीं है, उसमें कुछ वास्तविकता है। संसार केवल इसीलिए 'प्रतीयमान' होता है कि इसके पीछे ब्रह्म का 'अस्तित्व' है।

विज्ञाता को हम कैसे जान सकते हैं?* वेदान्त कहता है, "हम वह (विज्ञाता) हैं, किन्तु हम कभी उसे विषयतया जान नहीं सकते, क्योंकि वह कभी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता।" आधुनिक विज्ञान भी कहता है कि 'वह' कभी जाना नहीं जा सकता। फिर भी समय-समय पर हम उसकी झलक पा सकते हैं। संसार-भ्रम एक बार टूट जाने पर वह हमारे पास पुनः लौट आता है, किन्तु तब हमारे लिए उसमें कोई वास्तविकता नहीं रह जाती। हम उसे एक मृगतृष्णा के रूप में ही ग्रहण करते हैं। इस मृगतृष्णा के परे पहुँचना ही सभी धर्मों का लक्ष्य है। वेदों ने निरन्तर यही उपदेश दिया है कि मनुष्य और ईश्वर एक हैं, किन्तु बहुत कम लोग इस पर्दे (माया) के पीछे प्रवेश कर पाते और परम सत्य की उपलब्धि कर पाते हैं।

जो ज्ञानी बनना चाहे, उसे सर्वप्रथम भय से मुक्त होना चाहिए। भय हमारे सब से बुरे शत्रुओं में से एक है। इसके बाद जब तक किसी बात को 'जान न लो' इस पर विश्वास न करो। अपने से निरन्तर कहते रहो, "मैं शरीर नहीं हूँ, मैं मन नहीं हूँ, मैं विचार नहीं हूँ, मैं चेतना भी नहीं हूँ, मैं आत्मा हूँ।" जब तुम सब छोड़ दोगे तब यथार्थ आत्म-तत्त्व रह जाएगा। ज्ञानी का ध्यान दो प्रकार का होता है : (१) हर ऐसी वस्तु से विचार हटाना और उसको अस्वीकार करना जो हम 'नहीं हैं'। (२) केवल उसी पर दृढ़ रहना जो कि वास्तव में हम 'हैं' और वह है आत्मा – केवल एक सच्चिदानन्द परमात्मा। सच्चे विवेकी को आगे बढ़ना चाहिए और अपने विवेक की सुदूरतम सीमाओं तक निर्भयतापूर्वक इसका अनुसरण करना चाहिए। मार्ग में कहीं रुक जाने से काम नहीं बनेगा। जब हम अस्वीकार करना प्रारम्भ करें तो, जब तक हम उस विषय पर न पहुँच जायँ जिसे अस्वीकार किया या हटाया नहीं जा सकता – जो कि यथार्थ 'मैं' है, शेष

* विज्ञातारमरे केन विजानीयात्॥ – बृ. उप. ॥२।४।१४॥

सब हटा ही देना चाहिए। वही 'मैं' विश्व का द्रष्टा है, वह अपरिवर्तनशील, शाश्वत और असीम है। अभी अज्ञान की परत पर चढ़ी परत ही उसे हमारी दृष्टि से ओझल किये हुए है, पर वह सदैव वही रहता है।

एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे थे। शिखर पर बैठा हुआ पक्षी शान्त, महिमान्वित, सुन्दर और पूर्ण था। नीचे बैठा हुआ पक्षी बार-बार एक टहनी से दूसरी पर फुदक रहा था और कभी मधुर फल खाकर प्रसन्न तथा कभी कड़वे फल खाकर दुःखी होता था। एक दिन उसने जब सामान्य से अधिक कटु फल खाया तो उसने ऊपरवाले शान्त तथा महिमान्वित पक्षी की ओर देखा और सोचा, "उसके सदृश हो जाऊँ तो कितना अच्छा हो!" और वह उसकी ओर फुदक कर थोड़ा बढ़ा भी। जल्दी ही वह ऊपर के पक्षी के सदृश होने की अपनी इच्छा को भूल गया और पूर्ववत् मधुर या कटु फल खाता एवं सुखी तथा दुःखी होता रहा। उसने फिर ऊपर की ओर दृष्टि डाली और फिर शान्त तथा महिमान्वित पक्षी के कुछ निकटतर पहुँचा। अनेक बार इसकी आवृत्ति हुई और अन्ततः वह ऊपर के पक्षी के बहुत समीप पहुँच गया। उसके पंखों की चमक से वह (नीचे का पक्षी) चौंधिया गया और वह उसे आत्मसात् करता-सा जान पड़ा। अन्त में उसे यह देखकर बड़ा विस्मय और आश्चर्य हुआ कि वहाँ तो केवल एक ही पक्षी है और वह स्वयं सदैव ऊपरवाला ही पक्षी था। पर इस तथ्य को वह केवल अभी समझ पाया!* मनुष्य नीचेवाले पक्षी के समान है, लेकिन यदि वह अपनी सर्वश्रेष्ठ कल्पना के अनुसार किसी सर्वोच्च आदर्श तक पहुँचने के प्रयत्न में निरन्तर लगा रहे तो वह भी इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि वह सदैव आत्मा ही था, अन्य सब मिथ्या या स्वप्न था। भौतिक तत्त्व और उसकी सत्यता में विश्वास से अपने को पूर्णतया पृथक् करना ही यथार्थ ज्ञान है। ज्ञानी को

---

* द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।। – मु.उप. ३.१.१-२

अपने मन में निरन्तर रखना चाहिए – ॐ तत् सत्, अर्थात् ॐ ही एकमात्र वास्तविक सत्ता है। तात्त्विक एकता ज्ञानयोग की नींव है। उसे ही अद्वैतवाद (द्वैत से रहित) कहते हैं। वेदान्त दर्शन की यह आधारशिला है, उसका आदि और अन्त है। "केवल ब्रह्म ही सत्य है, शेष सब मिथ्या है और मैं ब्रह्म हूँ।" जब तक हम उसे अपने अस्तित्व का एक अंश न बना लें, तब तक अपने से केवल यही कहते रहने से हम समस्त द्वैत भाव से, शुभ तथा अशुभ से, सुख और दुःख से, कष्ट और आनन्द दोनों ही से, ऊपर उठ सकते हैं। और अपने को शाश्वत, अपरिवर्तनशील, असीम, 'एक अद्वितीय' ब्रह्म के रूप में जान सकते हैं।

ज्ञानयोगी को अवश्य ही उतना प्रखर अवश्य होना चाहिए जितना कि संकीर्णतम सम्प्रदायवादी, किन्तु उतना ही विस्तीर्ण भी जितना कि आकाश। उसे अपने पर पूर्ण नियन्त्रण रखना चाहिए, बौद्ध या ईसाई होने का सामर्थ्य रखना चाहिए तथा अपने को इन विभिन्न विचारों में सचेतन रूप से विभक्त करते हुए चिरन्तन सामंजस्य में दृढ़ रहना चाहिए। सतत अभ्यास ही हमें ऐसा नियन्त्रण प्राप्त करने का सामर्थ्य दे सकता है। सभी विविधताएँ उसी एक में हैं, किन्तु हमें यह सीखना चाहिए कि जो कुछ हम करें उससे अपना तादात्म्य न कर दें, और जो अपने हाथ में हो, उसके अतिरिक्त, अन्य कुछ न देखें, न सुनें और न उसके विषय में बात करें। हमें अपने पूरे जी-जान से जुट जाना और प्रखर बनना चाहिए। दिन-रात अपने से यही कहते रहो – सोऽहं, सोऽहं।

□□□

द्वितीय प्रवचन

वेदान्त दर्शन के सर्वश्रेष्ठ शिक्षक शंकराचार्य थे। ठोस तर्क द्वारा उन्होंने वेदान्त के सत्यों को वेदों से निकाला और उनके आधार पर उन्होंने ज्ञान के उस आश्चर्यजनक दर्शन का निर्माण किया जो कि उनके भाष्यों में उपदिष्ट है। उन्होंने ब्रह्म के सभी परस्परविरोधी वर्णनों का सामंजस्य किया और यह दिखाया कि केवल एक ही असीम सत्ता है। उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि मनुष्य ऊर्ध्व मार्ग का आरोहण शनैःशनैः ही कर सकता है। इसलिए विभिन्न उपस्थापनाओं की आवश्यकता उसकी क्षमता की विविधता के अनुसार पड़ती है। ईसा की वाणी में भी हमें कुछ ऐसा ही प्राप्त है। उन्होंने अपने श्रोताओं की क्षमता की विभिन्नता के अनुरूप अपने उपदेश को स्पष्ट ही समायोजित किया है। पहले उन्होंने उनके एक स्वर्गस्थ परम पिता के विषय में और फिर उससे प्रार्थना करने की शिक्षा दी। आगे चलकर वह एक पग और ऊपर उठे और उनसे कहा कि, 'मैं अंगूर की लता हूँ और तुम सब उसकी शाखाएँ हो', और अन्त में उन्होंने परम सत्य का उपदेश दिया – 'मैं और मेरे पिता एक हैं' और 'स्वर्ग का राज्य तुम्हारे भीतर है।' शंकर ने शिक्षा दी कि ये तीन बातें ईश्वर के महान् वरदान हैं : (१) मानव-शरीर (२) ईश्वर-लाभ की प्यास और (३) ऐसा गुरु जो हमें ज्ञानालोक दिखा सके। जब ये तीन महान् वरदान हमारे अपने हो जाते हैं, तब हमें समझना चाहिए कि हमारी मुक्ति निकट है। केवल ज्ञान हमें मुक्त कर सकता है और हमारा परित्राण भी कर सकता है, लेकिन ज्ञान होते ही शुभ को भी अवश्य हट जाना चाहिए।

वेदान्त का सार है कि सत् केवल एक ही है और प्रत्येक आत्मा पूर्णतया वही सत् है, उस सत् का अंश नहीं। ओस की हर बूँद में 'सम्पूर्ण'

सूर्य प्रतिविम्बित होता है। देश, काल और निमित्त द्वारा आभासित ब्रह्म ही मनुष्य है, जैसा हम उसे जानते हैं; किन्तु सभी नाम-रूप या आभासों के पीछे एक ही सत्य है। निम्न अथवा आभासिक स्व की अस्वीकृति ही निःस्वार्थता है। हमें अपने को इस दुःखद स्वप्न से मुक्त करना है कि हम यह देह हैं। हमें यह 'सत्य' जानना ही चाहिए कि 'मैं वह हूँ।' हम बिन्दु नहीं जो महासागर में मिलकर खो जायँ, हममें से प्रत्येक 'सम्पूर्ण' सीमाहीन सिन्धु है, और इसकी सत्यता की उपलब्धि हमें तव होगी, जव हम माया की वेड़ियों से मुक्त हो जाएँगे। असीम को विभक्त नहीं किया जा सकता, द्वैतरहित एक का द्वितीय नहीं हो सकता, सव कुछ वही एक 'है'। वह ज्ञान सभी को प्राप्त होगा, किन्तु हमें उसे अभी प्राप्त करने के लिए संघर्ष करना चाहिए; क्योंकि जब तक हम उसे प्राप्त नहीं कर लेते, हम मानव जाति की वस्तुतः उत्तम सहायता नहीं कर सकते। जीवन्मुक्त (जीवित रहते हुए मुक्त अथवा ज्ञानी) ही केवल यथार्थ प्रेम, यथार्थ दान, यथार्थ सत्य देने में समर्थ होता है और सत्य ही हमें मुक्त करता है। कामना हमें दास बनाती है, मानो वह एक अतृप्त अत्याचारी शासिका है जो अपने शिकार को चैन नहीं लेने देती; किन्तु जीवन्मुक्त व्यक्ति इस ज्ञान तक पहुँचकर कि वह अद्वितीय ब्रह्म है और उसे अन्य कुछ काम नहीं है, सभी कामनाओं को जीत लेता है।

मन हमारे समक्ष – देह, लिंग, सम्प्रदाय, जाति, बन्धन आदि – सभी भ्रमों को उपस्थित करता है; इसलिए जब तक मन को सत्य की उपलब्धि न हो जाय तव तक उससे निरन्तर सत्य कहते रहना है। हमारा असली स्वरूप आनन्द है, और संसार में जो कुछ सुख हमें मिलता है, वह उस परमानन्द का केवल प्रतिबिम्ब, उसका अणुमात्र भाग है, जो हम अपने असली स्वरूप के स्पर्श से पाते हैं। 'वह' सुख और दुःख दोनों से परे है, वह विश्व का 'द्रष्टा' है, ऐसा अपरिवर्तनीय पाठक है, जिसके समक्ष जीवन-ग्रन्थ के पृष्ठ खुलते चले जाते हैं।

अभ्यास से योग, योग से ज्ञान, ज्ञान से प्रेम और प्रेम से परमानन्द की प्राप्ति होती है। 'मुझे और मेरा' एक अन्धविश्वास है; हम उसमें इतने

समय रह चुके हैं कि उसे दूर करना प्राय: असम्भव है। परन्तु यदि हमें सर्वोच्च स्तर पर पहुँचना है तो हमें इससे अवश्य मुक्त होना चाहिए। हमें सुखी और प्रसन्न होना चाहिए; मुँह लटकाने से धर्म नहीं बनता। धर्म संसार में सर्वाधिक आनन्द की वस्तु होना चाहिए, क्योंकि वही सर्वोत्तम वस्तु है। तपस्या हमें पवित्र नहीं बना सकती। जो व्यक्ति भगवत्-प्रेमी और पवित्र है, वह दु:खी क्यों होगा? उसे तो एक सुखी बच्चे के समान होना चाहिए, क्योंकि वह तो सचमुच भगवान् की ही एक सन्तान है। धर्म में सर्वोपरि वात चित्त को निर्मल करने की है। स्वर्ग का राज्य हमारे भीतर है, पर केवल निर्मल-चित्त व्यक्ति ही राजा के दर्शन कर सकता है। जब हम संसार का चिन्तन करते हैं, तब हमारे लिए संसार ही होता है, किन्तु यदि हम उसके पास इस भाव से जायँ कि वह ईश्वर है तो हमें ईश्वर की प्राप्ति होगी। हमारा ऐसा चिन्तन प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक व्यक्ति के प्रति होना चाहिए – माता, पिता, बच्चे, पति, पत्नी, मित्र और शत्रु, सब के प्रति। सोचो तो, हमारे लिए समग्र विश्व कितना बदल जाय, यदि हम चेतनापूर्वक उसे ईश्वर से भर सकें! ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ न देखो। तब हमारे सभी दु:ख, सभी संघर्ष, सभी कष्ट सदैव के लिए हमसे छूट जाएँगे।

ज्ञान 'मतवादविहीन' है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वह मतों से घृणा करता है। इसका अर्थ सिर्फ यह है कि (ज्ञान द्वारा) मतों से परे और ऊपर की स्थिति को प्राप्त कर लिया गया है। ज्ञानी विनाश करने की इच्छा नहीं रखता अपितु सभी की सहायता करता है। जिस प्रकार सभी नदियाँ अपना जल सागर में प्रवाहित करती है और उससे एकीभूत हो जाती हैं, उसी प्रकार विभिन्न सम्प्रदायों से ज्ञान की उपलब्धि होनी चाहिए और उन्हें एक हो जाना चाहिए।

प्रत्येक वस्तु की सत्यता ब्रह्म पर निर्भर है और इस सत्य की यथार्थत: उपलब्धि करने पर ही हम किसी सत्य को प्राप्त कर पाते हैं। जब हम कोई भेद-दर्शन नहीं करते, तभी हम अनुभव करते हैं कि, 'मैं और मेरे पिता एक हैं'।

भगवद्गीता में कृष्ण ने ज्ञान का अतीव स्पष्ट उपदेश किया है। यह महान् काव्य समस्त भारतीय साहित्य का मुकुटमणि माना जाता है। यह वेदों पर एक प्रकार का भाष्य है। वह हमें दिखाता है कि आध्यात्मिक संग्राम इसी जीवन में लड़ा जाना चाहिए; अत: हमें उससे भागना नहीं चाहिए, अपितु उसको विवश करना चाहिए कि जो कुछ उसमें है, वह उसे हमें प्रदान करे। चूँकि गीता उच्चतर वस्तुओं के लिए इस संघर्ष का प्रतिरूप है, इसलिए उसके दृश्य को रणक्षेत्र के मध्य प्रस्तुत करना अतीव काव्यमय हो गया है। विरोधी सेनाओं में से एक के नेता अर्जुन के सारथी के वेष में कृष्ण उसे दु:खी न होने और मृत्यु से न डरने की प्रेरणा देते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि वह वस्तुत: अमर है, और मनुष्य के प्रकृत स्वरूप में किसी भी विकारशील वस्तु का स्थान नहीं है। अध्याय के बाद अध्याय में कृष्ण दर्शन और धर्म की उच्च शिक्षा अर्जुन को देते हैं। यही शिक्षाएँ इस काव्य को इतना अद्भुत बनाती हैं, वस्तुत: समस्त वेदान्त दर्शन उसमें समाविष्ट है। वेदों का उपदेश है कि आत्मा असीम है और किसी प्रकार भी शरीर की मृत्यु से प्रभावित नहीं होती; आत्मा एक ऐसा वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं नहीं है और जिसका केन्द्र किसी देह में होता है। मृत्यु (तथाकथित) केवल इस केन्द्र का परिवर्तन है। ईश्वर एक ऐसा वृत्त है जिसकी परिधि कहीं नहीं है और जिसका केन्द्र सर्वत्र है और जब हम देह के संकीर्ण केन्द्र से निकल सकेंगे, हम ईश्वर को प्राप्त कर लेंगे जो हमारा वास्तविक आत्मा है।

वर्तमान, भूत और भविष्य के बीच एक सीमा-रेखा मात्र है; अत: हम विवेकपूर्वक यह नहीं कह सकते कि हम केवल वर्तमान की ही चिन्ता करते हैं, क्योंकि भूत और भविष्य से भिन्न उसका कोई अस्तित्व नहीं है। वे सब एक पूर्ण हैं; काल की कल्पना तो एक उपाधि मात्र है, जिसे हमारी विचार-शक्ति ने हम पर आरोपित किया है।

□□□

तृतीय प्रवचन

ज्ञान हमें शिक्षा देता है कि संसार को त्यागना चाहिए, किन्तु इसी कारण से उसे छोड़ना नहीं चाहिए। संन्यासी की सच्ची कसौटी है, संसार में रहना किन्तु संसार का न होना। त्याग की यह भावना सभी धर्मों में किसी-न-किसी रूप में सामान्यत: रही है। ज्ञान का दावा है कि हम सभी को समान भाव से देखें – केवल 'समत्व' का ही दर्शन करें। निन्दा-स्तुति, भला बुरा और शीत-उष्ण सभी हमें समान रूप से ग्राह्य होना चाहिए। भारत में ऐसे अनेक महात्मा हैं जिनके विषय में यह अक्षरश: सत्य है। वे हिमालय के हिमाच्छादित शिखरों पर अथवा मरुभूमि की प्रवाहमयी बालुका पर पूर्ण विवस्त्र और तापमान के अन्तरों से पूर्ण अचेतन जैसे विचरण करते हैं।

सर्वप्रथम हमें देह रूप कुसंस्कार को त्यागना है। हम देह नहीं हैं। इसके बाद इस कुसंस्कार को त्यागना चाहिए कि हम मन हैं। हम मन नहीं हैं, यह केवल 'रेशमी देह' है, आत्मा का कोई अंश नहीं। लगभग सभी चीजों में लागू होनेवाले 'देह' शब्द में ऐसा कुछ निहित है जो सभी देहों में सामान्यत: विद्यमान है। यह 'सत्ता' है। हमारे शरीर उन विचारों के प्रतीक हैं जो उनके पीछे हैं और वे विचार भी अपने क्रम में अपने पीछे की किसी वस्तु के प्रतीक हैं, वही एक वास्तविक सत्ता है – हमारी आत्मा की आत्मा, विश्व की आत्मा, हमारे जीवन का जीवन, हमारी वास्तविक आत्मा। जब तक हममें विश्वास है कि हम ईश्वर से किंचित् भी भिन्न हैं, भय हमारे साथ रहता है।* किन्तु एकत्व का ज्ञान हो जाता है तो भय नहीं रहता। हम डरें किससे? ज्ञानी केवल इच्छा-शक्ति से जगत् को मिथ्या बनाते हुए शरीर

---

* यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते।
अथ तस्य भयं भवति ॥ तै. उप. २।६॥

और मन से अतीत हो जाता है। इस प्रकार वह अविद्या का नाश करता है और वास्तविक आत्मा को जान लेता है। सुख और दु:ख केवल इन्द्रियों में हैं, वे हमारे प्रकृत स्वरूप का स्पर्श नहीं कर सकते। आत्मा देश, काल और निमित्त से परे है और इसीलिए सीमातीत तथा सर्वव्यापी है।

ज्ञानी को सभी नाम-रूपों से छुटकारा पाना ही हैं। उसे सभी नियमों और शास्त्रों से परे होना है एवं स्वयं अपना शास्त्र बनना है। नाम-रूप के बन्धन से ही हम जीव भाव को प्राप्त होते और मरते हैं। तथापि ज्ञानी को कभी उसे निन्दनीय न समझना चाहिए, जो अब भी नाम-रूप के परे नहीं हो सका है। उसे कभी दूसरे के विषय में ऐसा सोचना भी न चाहिए कि 'मैं तुझसे अधिक पवित्र हूँ।'

सच्चे ज्ञानयोगी के ये लक्षण हैं – (१) वह ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ कामना नहीं करता। (२) उसकी सभी इन्द्रियाँ पूर्ण नियन्त्रण में रहती हैं, वह चुपचाप सभी कष्ट सहन कर लेता है। उन्मुक्त आकाश के नीचे नग्न वसुन्धरा पर उसकी शय्या हो या वह राजमहल में निवास करे, वह समानरूपेण सन्तुष्ट रहता है। वह किसी कष्ट का परिहार नहीं करता, वरन् उसे बरदास्त और सहन कर लेता है। वह आत्मा के अतिरिक्त और सभी वस्तु छोड़ देता है। (३) वह जानता है कि एक ब्रह्म को छोड़कर अन्य सब मिथ्या है। (४) उसे मुक्ति की तीव्र इच्छा होती है। प्रबल इच्छा-शक्ति द्वारा वह अपने मन को उच्चतर वस्तुओं पर दृढ़ रखता है और इस प्रकार शान्ति प्राप्त करता है। यदि हम शान्ति को प्राप्त न कर सकें तो हम पशुओं से किस प्रकार बढ़ कर हैं? वह (ज्ञानी) सब कुछ दूसरों के लिए, प्रभु के लिए करता है; वह सभी कर्मफलों का त्याग करता है और इहलौकिक तथा पारलौकिक फलों की आशा नहीं करता। हमारी आत्मा से अधिक विश्व हमें क्या दे सकता है? उस आत्मा को प्राप्त करने से हम 'सब' प्राप्त कर लेते हैं। वेदों की शिक्षा है कि आत्मा या सत्य एक अविभक्त सत् वस्तु है। वह मन, विचार या चेतना, जैसा कि हम उसे जानते हैं, इनसे भी परे है। सभी वस्तुएं उसी से हैं। वह वही है, जिसके माध्यम से (अथवा

जिसके कारण से) हम देखते, सुनते, अनुभव करते और सोचते हैं। विश्व का लक्ष्य ॐ या एकमात्र सत्ता से एकत्व प्राप्त करना है। ज्ञानी को सभी रूपों से मुक्त होना पड़ता है; न तो वह हिन्दू है, न बौद्ध, न ईसाई, अपितु वह तीनों ही है। जब सभी कर्मफलों का त्याग किया जाता है, प्रभु को अर्पित किया जाता है, तब किसी कर्म में बन्धन की शक्ति नहीं रह जाती। ज्ञानी अत्यंत बुद्धिवादी होता है, वह हर वस्तु अस्वीकार कर देता है। वह दिन-रात अपने से कहता है, "कोई आस्था नहीं है, कोई पवित्र शब्द नहीं है, स्वर्ग नहीं, धर्म नहीं, नरक नहीं, सम्प्रदाय नहीं, केवल आत्मा है।" सब कुछ निकाल देने पर जो नहीं छोड़ा जा सकता, वहाँ जब मनुष्य पहुँच जाता है तो केवल आत्मा रह जाती है। ज्ञानी किसी बात को स्वयंसिद्ध नहीं मानता; वह शुद्ध विवेक और इच्छा-शक्ति द्वारा विश्लेषण करता रहता है। और अन्ततः निर्वाण तक पहुँच जाता है, जो समस्त सापेक्षिकता की समाप्ति है। इस अवस्था का वर्णन या कल्पना मात्र तक सम्भव नहीं है। ज्ञान को कभी किसी पार्थिव फल से जाँचा नहीं जा सकता। उस गृध्र के समान न बनो, जो दृष्टि से परे उड़ता है, किन्तु जो सड़े मांस के एक टुकड़े को देखते ही नीचे झपटने को तैयार रहता है। शरीर स्वस्थ होने तथा दीर्घ जीवन या समृद्धि की कामना न करो; केवल मुक्त होने की इच्छा करो।

हम हैं सच्चिदानन्द। सत्ता विश्व का अन्तिम सामान्यीकरण है; अतः हमारा अस्तित्व है, हम यह जानते हैं, और आनन्द अमिश्रित सत्ता का स्वाभाविक परिणाम है। जब हम आनन्द के सिवा न तो कुछ माँगते हैं, न कुछ देते और न कुछ जानते हैं, तब कभी-कभी हमें परमानन्द का एक कण मिल जाता है। किन्तु वह आनन्द फिर चला जाता है और हम विश्व के दृश्य को अपने समक्ष चलते हुए देखते हैं और हम जानते हैं कि 'वह उस ईश्वर पर किया हुआ एक पच्चीकारी का काम है जो सभी वस्तुओं की पृष्ठभूमि है।' (ज्ञान के बाद) जब हम पृथ्वी पर पुनः लौटते हैं और निरपेक्ष परम को सापेक्ष रूप में देखते हैं, तब हम सच्चिदानन्द को ही त्रिमूर्ति – पिता, पुत्र, और पवित्र आत्मा के रूप में देखते हैं। सत् = सर्जक तत्त्व;

चित् = परिचालक तत्त्व; आनन्द = साक्षात्कारी तत्त्व जो हमें फिर उसी एकत्व के साथ सम्बद्ध करता है। कोई भी सत् को ज्ञान (चित्) के अतिरिक्त अन्य उपाय से नहीं जान सकता। तभी ईसा के इस कथन की गम्भीरता समझ में आती है – 'पुत्र के सिवाय कोई परम पिता को नहीं देख सकता।' वेदान्त की शिक्षा है कि निर्वाण अव और यहीं प्राप्त किया जा सकता है और उसकी प्राप्ति के लिए मृत्यु की प्रतीक्षा नहीं करनी है। निर्वाण आत्मानुभूति है और एक वार, केवल एक ही क्षण के लिए यदि कोई इसको प्राप्त कर ले तो उसे पृथक् व्यक्तित्व रूप मृग-तृष्णा द्वारा भ्रमित नहीं किया जा सकता है। चक्षु होने पर तो हम मिथ्या को अवश्य देखेंगे, किन्तु हम यह भी जान लेंगे कि वह किसके लिए है – तव हम उसके यथार्थ स्वरूप को जान लेते हैं। केवल परदा (माया) ही है जो उस अपरिवर्तनशील आत्मा को छिपाये रखता है। जव परदा हट जाता है, हम उसके पीछे आत्मा को पा जाते हैं, पर सव परिवर्तन परदे में है। सन्त में परदा पतला होता है और मानो आत्मा का प्रकाश दिखायी देता है; किन्तु पापी लोगों में परदा मोटा होता है और वे इस सत्य को नहीं देख पाते कि आत्मा वहाँ भी है, जैसे कि सन्तों के पीछे।

केवल एकत्व में पहुँचकर ही सव तर्क समाप्त हो जाते हैं। इसलिए हम पहले विश्लेषण करते हैं, फिर संश्लेषण। विज्ञान के जगत् में एक आधार-शक्ति की खोज में दूसरी शक्तियाँ धीरे-धीरे संकीर्ण होती जाती हैं। जव भौतिक विज्ञान अन्तिम एकत्व को पूर्णतया समझ जाएगा तो वह एक अन्त पर जा पहुँचेगा, क्योंकि एकत्व प्राप्त करके हम विश्रान्ति या अन्तिम को पाते हैं। ज्ञान ही अन्तिम वात है।

सभी विज्ञानों में सर्वाधिक अनमोल विज्ञान, धर्म ने बहुत पहले ही उस अन्तिम एकत्व को खोज लिया था, जिसे प्राप्त करना ज्ञानयोग का लक्ष्य है। विश्व में केवल एक ही आत्मा है, अन्य निम्न स्तर की जीवात्माएँ उसकी अभिव्यक्ति मात्र हैं। लेकिन आत्मा अपनी सभी अभिव्यक्तियों से महतोमहीयान् है। सभी कुछ आत्मा अथवा ब्रह्म ही है। साधु, पापी, शेर,

भेड़, हत्यारे भी यथार्थतः सिवा ब्रह्म के अन्य कुछ नहीं हो सकते। क्योंकि अन्य कुछ है ही नहीं। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। – 'सद्वस्तु एक है, ब्रह्मविद् उसे तरह-तरह से वर्णन करते हैं।' इस ज्ञान से उच्चतर कुछ नहीं हो सकता और योग द्वारा लोगों के शुद्ध अन्तःकरण में वह ज्ञान अचानक ही स्फुरित होता है। कोई जितना ही अधिक योग और ज्ञान द्वारा शुद्ध और योग्य हो चुका है, उतना ही अनुभूति-स्फुरण स्पष्टतर होता है। ४००० वर्ष पूर्व इस योग का आविष्कार हुआ था, किन्तु अब तक भी यह ज्ञान मानव-जाति की सम्पत्ति नहीं हो सका है। अब भी यह कुछ व्यक्तियों की ही सम्पत्ति है।

□□□

चतुर्थ प्रवचन

मनुष्य नामधारी सभी लोग अब भी यथार्थ मनुष्य नहीं हैं। प्रत्येक को इस संसार का निर्णय अपने मन से करना होता है। उच्चतर वोध अत्यधिक कठिन है। अधिकतर लोगों को साकार वस्तु भावात्मक वस्तु से अधिक जँचती है! इसके उदाहरण के रूप में एक दृष्टान्त है। एक हिन्दू और एक जैन वम्बई के किसी धनी व्यापारी के घर में शतरंज खेल रहे थे। घर समुद्र के निकट था, खेल लम्बा था। जिस छज्जे पर वे वैठे थे, उसके नीचे जल-प्रवाह ने खिलाड़ियों का ध्यान आकृष्ट किया। एक ने उसे पौराणिक कथा द्वारा समझाया कि देवगण अपने खेल में जल को एक बड़े गढ़े में डाल देते हैं और फिर उसे वापस फेंक देते हैं। दूसरे ने कहा, "नहीं, देवता उसे एक ऊँचे पहाड़ पर उपयोग के लिए खींचते हैं और जब उनका काम हो जाता है, वे उसे फिर नीचे फेंक देते हैं।" एक नवयुवक विद्यार्थी, जो वहाँ उपस्थित था, उन पर हँसने लगा और वोला, "क्या आप नहीं जानते कि चन्द्रमा का आकर्षण ज्वार-भाटा उत्पन्न करता है?" इस पर वे दोनों व्यक्ति, उससे क्रोधपूर्वक भिड़ गये और वोले कि क्या वह उन्हें मूर्ख समझता है? क्या वह मानता है कि चन्द्रमा के पास ज्वार-भाटे को खींचने के लिए कोई रस्सी है अथवा वह इतनी दूर पहुँच भी सकता है? उन्होंने इस प्रकार की किसी भी मूर्खतापूर्ण व्याख्या को मानना अस्वीकार कर दिया! इसी अवसर पर उनका मेजवान कमरे में आया और दोनों पक्षों ने उससे पुनर्विचार की प्रार्थना की। वह एक शिक्षित व्यक्ति था और सचमुच सत्य क्या है, जानता था, किन्तु यह देखकर कि शतरंज खेलनेवालों को यह समझाना असम्भव है, उसने विद्यार्थी को इशारा किया और तब ज्वार-भाटे की ऐसी व्याख्या की जो उसके अज्ञ श्रोताओं को पूर्णतया सन्तोषजनक मालूम हुई। उसने

शतरंज खेलनेवालों से कहा, "आपको जानना चाहिए कि बहुत दूर महासागर के बीच एक विशाल स्पंज का पहाड़ है। आप दोनों ने स्पंज देखा होगा और जानते होंगे, मेरा आशय क्या है! स्पंज का यह पर्वत बहुत-सा जल सोख लेता है और तब समुद्र घट जाता है। धीरे-धीरे देवता उतरते हैं और स्पंज पर्वत पर नृत्य करते हैं। उनके भार से सब जल निचुड़ जाता है और समुद्र फिर बढ़ जाता है। सज्जनो! ज्वार-भाटे का यही कारण है और आप स्वयं आसानी से समझ सकते हैं कि यह व्याख्या कितनी युक्ति-पूर्ण और सरल है।" जो दोनों व्यक्ति ज्वार-भाटा उत्पन्न करने में चन्द्रमा की शक्ति का उपहास करते थे, उन्हें ऐसे स्पंज पर्वत में, जिस पर देवता नृत्य करते हैं, कुछ भी अविश्वसनीय न लगा, देवता उनके लिए सत्य थे और उन्होंने सचमुच स्पंज भी देखा था। तब उन दोनों का संयुक्त प्रभाव समुद्र पर होना भी क्या असम्भव था?

आराम सत्य की कसौटी नहीं है, प्रत्युत् सत्य आरामदायक होने से बहुत दूर है। यदि कोई सचमुच सत्य की खोज का इरादा करे तो उसे आराम के प्रति आसक्त न होना चाहिए। सब कुछ छोड़ देना कठिन काम है, किन्तु ज्ञानी को यह अवश्य करना पड़ता है। उसे पवित्र बनना ही होगा, सभी कामनाओं को मारना होगा और अपने को शरीर के साथ तादात्म्य से रोकना होगा। केवल तभी उसके अन्तःकरण में उच्चतर सत्य प्रकाशित हो सकेगा। बलिदान आवश्यक है और निम्नतर जीवात्मा का यह बलिदान ऐसा आधारभूत सत्य है, जिसने आत्मत्याग को सभी धर्मों का एक अंग बना दिया है। देवताओं के प्रति की जानेवाली सभी प्रसादक आहुतियाँ आत्म-त्याग की ही, जिसका कि कुछ वास्तविक मूल्य है, अस्पष्ट रूप से समझी जानेवाली अनुकरण हैं और अयथार्थ आत्म-समर्पण से ही हम यथार्थ आत्म-साक्षात्कार कर सकते हैं। ज्ञानी को शरीर-धारण के निमित्त चेष्टा न करनी चाहिए और न इच्छा करनी चाहिए। चाहे संसार गिर पड़े, दृढ़ होकर परम सत्य का अनुसरण करना चाहिए। जो 'धुनों' का अनुसरण करते हैं, वे ज्ञानी कभी नहीं बन सकते। यह तो जीवन भर का कार्य है; नहीं, सौ जीवनों का कार्य

है। वहुत थोड़े लोग ही अपने भीतर ईश्वर का साक्षात्कार करने का साहस करते हैं और स्वर्ग, साकार ईश्वर तथा पुरस्कार की सभी आशाओं का त्याग करने का साहस रखते हैं। उसे सिद्ध करने के लिए, दृढ़ इच्छा की आवश्यकता होती है, आगा-पीछा करना भी भारी दुर्वलता का चिह्न है। मनुष्य सदैव पूर्ण है, अन्यथा वह कभी ऐसा न बन पाता। किन्तु उसे प्राप्त करना है। यदि मनुष्य कार्य-कारणों से बद्ध हो तो वह केवल मरणशील हो सकता है। अमरत्व तो केवल निरुपाधिक के लिए ही सत्य हो सकता है। आत्मा पर किसी वस्तु की क्रिया नहीं हो सकती – यह विचार सिर्फ भ्रम है; किन्तु मनुष्य को उस 'तत्' के साथ अपना तादात्म्य, स्वात्मनि क्रियाभाव करना ही होगा, शरीर या मन से नहीं। उसे यह वोध होना चाहिए कि वह विश्व का द्रष्टा है, तव वह उस अद्भुत अस्थायी दृश्यावली का आनन्द ले सकता है, जो उसके सामने निकल रही है। उसे स्वयं से यह भी कहना चाहिए कि 'मैं विश्व हूँ, मैं ब्रह्म हूँ।' जब स्वयं मनुष्य 'वास्तव में' स्वयं का उस एक आत्मा के साथ तादात्म्य कर लेता है, उसके लिए सभी कुछ सम्भव हो जाता है और सभी पदार्थ उसके सेवक हो जाते हैं। जैसा श्रीरामकृष्ण ने कहा है – जव मक्खन निकाल लिया जाता है तो वह दूध या पानी में रखा जा सकता है और दोनों में से किसी में न मिलेगा; इसी प्रकार मनुष्य जव आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है तो वह संसार द्वारा दूषित नहीं किया जा सकता।

एक गुब्बारे से नीचे की स्वल्प भिन्नताएँ परिलक्षित नहीं होतीं; इसी प्रकार जव मनुष्य अध्यात्म क्षेत्र में पर्याप्त ऊँचा उठ जाता है, वह भले और बुरे लोगों का भेद नहीं देख पाता; एक बार घट पका दिये जाने पर उसका आकार नहीं बदला जा सकता। इसी प्रकार, जिसने एक बार प्रभु का स्पर्श कर लिया और जिसे अग्नि की दीक्षा मिल गयी, उसे बदला नहीं जा सकता। संस्कृत में दर्शन का अर्थ है, सम्यक् दर्शन और धर्म व्यावहारिक दर्शन है। भारत में केवल सैद्धान्तिक और आनुमानिक दर्शन का बहुत आदर नहीं है। वहाँ कोई सम्प्रदाय, मत और पन्थ (dogma) नहीं है। दो मुख्य विभाग

हैं – द्वैतवादी और अद्वैतवादी। पहले पक्ष के लोग कहते हैं, "मुक्ति का मार्ग ईश्वर की दया से लभ्य है, कार्य-कारण का नियम एक बार चालू हो जाने पर कभी तोड़ा नहीं जा सकता; केवल ईश्वर, जो नियम से बद्ध नहीं है, अपनी दया से, हमें इसे तोड़ने में सहायता देता है।" दूसरे पक्ष का कहना है, "इस सारी प्रकृति के पीछे कुछ है, जो मुक्त है और उस वस्तु के मिलने से, जो सभी नियमन से परे है, हम स्वतन्त्र हो जाते हैं और स्वतन्त्रता ही मुक्ति है।"

द्वैतवाद केवल एक अवस्था है, लेकिन अद्वैतवाद अन्त तक ले जाता है। पवित्रता ही मुक्ति का सब से सीधा मार्ग है। जो हम कमायेंगे, वही हमारा है। कोई शास्त्र या कोई आस्था हमें नहीं बचा सकती। यदि कोई ईश्वर है तो 'सभी' उसे पा सकते हैं। किसी को यह बताने की आवश्यकता नहीं होती कि गर्मी है, प्रत्येक उसे स्वयं जान सकता है। ऐसा ही ईश्वर के लिए होना चाहिए। वह सभी की चेतना में एक तथ्य होना चाहिए। हिन्दू 'पाप' को वैसा नहीं मानते, जैसा कि पाश्चात्य विचार से समझा जाता है। बुरे काम पाप नहीं हैं, उन्हें करके हम किसी शासक को (परम पिता को) अप्रसन्न नहीं करते, हम स्वयं अपने को हानि पहुँचाते हैं और हमें दण्ड भी सहना होगा। आग में किसी का अँगुली रखना पाप नहीं है, किन्तु जो कोई रखेगा, उसे उतना ही दुःख उठाना होगा। सभी कर्म कोई न कोई फल देते हैं और 'प्रत्येक कर्म कर्ता के पास लौटता है।' एकेश्वरवाद का ही पूर्ववर्ती रूप त्रिमूर्तिवाद (जो कि द्वैतवाद है अर्थात् मनुष्य और ईश्वर सदैव के लिए पृथक्) है। ऊपर (परमार्थ) की ओर पहला कदम तब होता है, जब हम अपने को ईश्वर की सन्तान मान लेते हैं और तब अन्तिम कदम होता है, जब हम अपने को केवल एक आत्मा के रूप में अनुभव कर लेते हैं।

□□□

पंचम प्रवचन

यह प्रश्न कि नित्य शरीर क्यों नहीं हो सकते, स्वयं ही अर्थहीन है, क्योंकि 'शरीर' एक ऐसा शब्द है, जो मौलिक द्रव्य के एक विशेष संघात के प्रति प्रयुक्त होता है, जो परिवर्तनशील है और जो स्वभाव से ही अस्थायी है। जब हम परिवर्तनों के बीच नहीं गुजरते, हम तथाकथित शरीरधारी जीव नहीं होते। 'जड़पदार्थ' जो देश, काल और निमित्त की सीमा के परे हो, जड़ हो ही नहीं सकता। स्थान और काल केवल हममें विद्यमान हैं; लेकिन हम तो यथार्थतः एक अन्य नित्य आत्मा ही हैं। सभी नाम-रूप परिवर्तनशील हैं, इसीलिए सब धर्म कहते हैं, 'ईश्वर का कोई आकार नहीं है।' मिलिन्द एक यूनानी बैक्ट्रियन राजा था, वह ईसा के लगभग १५० वर्ष पूर्व एक बौद्ध धर्मप्रचारक संन्यासी द्वारा बौद्ध धर्म में दीक्षित कर लिया गया और उनके द्वारा उसे 'मिलिन्द' कहा गया। उसने अपने गुरु एक तरुण संन्यासी से पूछा, "क्या (बुद्ध जैसे) सिद्ध मनुष्य कभी भूल कर सकते हैं?" तरुण संन्यासी का उत्तर था, "सिद्ध मनुष्य ऐसी साधारण बातों में अज्ञान में रह सकते हैं, जो उनके अनुभव में न आयी हों, किन्तु वे ऐसी बातों में भूल 'नहीं' कर सकते, जो कि उनकी अन्तर्दृष्टि ने सचमुच प्रत्यक्ष पा ली हों।" वे तो अभी और यहीं पूर्णतया सिद्ध हैं, वे विश्व का सारा रहस्य या मूल तत्त्व स्वयं जानते हैं, किन्तु वे केवल बाह्य भिन्नताओं को नहीं जान सकते हैं, जिनके माध्यम से वह तत्त्व स्थान और काल में प्रकट होता है। वे स्वयं मृत्तिका को जानते हैं, पर जिन-जिन रूपों में उसे परिणत किया जा सकता है, उनमें से प्रत्येक का अनुभव नहीं रखते। सिद्ध मनुष्य स्वयं आत्मा को तो जानता है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति के प्रत्येक रूप और संघात को नहीं। जैसा कि हम कहते हैं, उन्हें भी इसके लिए ऐसा और अधिक सापेक्षिक

ज्ञान प्राप्त करना होगा, यद्यपि अपनी महान् आध्यात्मिक शक्ति के कारण वे उसे अत्यधिक शीघ्रता से सीख लेंगे।

पूर्णतया संयत मन का प्रकाशपुंज (सर्च लाइट) जब किसी विषय पर डाला जाता है तो वह उसे शीघ्र ही आयत्त कर लेता है। इसे समझना बड़ा ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि इससे इस प्रकार की अत्यन्त मूर्खतापूर्ण व्याख्या का निरसन होगा कि एक बुद्ध या ईसा साधारण सापेक्षिक (जागतिक) ज्ञान के सम्बन्ध में क्यों भूल में थे, जैसा कि हम भली भाँति जानते हैं कि वे ऐसे थे। उनके उपदेशों को गलत ढंग से प्रस्तुत करने का दोष उनके शिष्यों पर नहीं मढ़ा जा सकता। उनके वक्तव्यों में यह कहना कि एक बात सत्य है और दूसरी असत्य, निरर्थक है। या तो पूर्ण विवरण स्वीकार करो या अस्वीकार करो। 'हम' असत्य में सत्य को कैसे ढूँढकर निकालेंगे?

एक घटना यदि एक बार घटती है, तो वह फिर भी घट सकती है। यदि किसी मनुष्य ने कभी पूर्णता प्राप्त की है तो हम भी ऐसा कर सकते हैं। यदि हम यहाँ अभी पूर्ण नहीं हो सकते तो हम किसी स्थिति में या स्वर्ग में या ऐसी दशा में, जिसकी कि हम कल्पना कर सकें, पूर्ण नहीं हो सकते। यदि ईसा मसीह पूर्ण नहीं थे तो जो धर्म उनके नाम पर चल रहा है, वह भूमिसात् हो जाता है। यदि वे पूर्ण थे तो हम भी पूर्ण बन सकते हैं। पूर्ण व्यक्ति उसी प्रकार से तर्क नहीं करते या वैसा नहीं 'जानते', जैसा हम 'जानने' का अर्थ समझते हैं। क्योंकि हमारा सारा ज्ञान तुलना पर आधारित है और असीम वस्तु में कोई तुलना, कोई वर्गीकरण सम्भव नहीं है। बुद्धि की अपेक्षा मूल प्रवृत्ति कम भूल करती है, किन्तु बुद्धि का स्तर उससे उच्च है, और बुद्धि स्वस्फुरित ज्ञान की ओर ले जाती है। प्राणियों में तीन स्तर की अभिव्यक्तियाँ हैं – (१) अवचेतन – यन्त्रवत्, भूल न करनेवाले; (२) चेतन – जाननेवाले, भूल करनेवाले; (३) अतिचेतन – अतीन्द्रिय-ज्ञान-सम्पन्न, भूल न करनेवाले; और उनका दृष्टान्त पशु, मनुष्य और ईश्वर में है। जो मनुष्य पूर्ण हो चुका है, उसके लिए अपने ज्ञान-प्रयोग के अतिरिक्त और कुछ करना शेष नहीं रह जाता। वह केवल संसार की

सहायता करने के लिए जीवित रहता है, अपने लिए वह कुछ कामना नहीं करता। जिससे भेद उत्पन्न होता है, वह तो निषेधात्मक है। भावात्मक (सकारात्मक) तो सदैव अधिक से अधिकतर विस्तृत होता जाता है। जो हममें सामान्य रूप से विद्यमान है, वह सब से अधिक विस्तृत है और वह है 'सत्' या अस्तित्व।

'नियम घटनाओं की एक माला की व्याख्या के लिए एक मानसिक शार्टहैण्ड या सांकेतिक लिपि है', किन्तु एक सत्ता के रूप में, ऐसा कहना चाहिए, नियम का कोई अस्तित्व नहीं है। गोचर संसार में कतिपय घटनाओं के नियमित क्रम को व्यक्त करने के लिए हम इस (नियम) शब्द का प्रयोग करते हैं। हमें नियम को एक अन्धविश्वास न बन जाने देना चाहिए, कुछ ऐसे अपरिहार्य सिद्धान्त न बनने देना चाहिए, जो हमें मानना ही पड़े। बुद्धि से भूल तो अवश्य होती है, किन्तु भूल को जीतने का संघर्ष ही तो हमें देवता बनाता है। शरीर के दोष को निकालने के लिए रोग प्रकृति का एक प्रकार से संघर्ष है, और हमारे भीतर से पशुत्व को निकालने के लिए पाप हमारे भीतर के देवत्व का संघर्ष है। हमें ईश्वरत्व तक पहुँचने के लिए कभी-कभी भूल या पाप करना होगा।

किसी पर दया न करो। सब को अपने समान देखो। अपने को असाम्य रूप आदिम पाप से मुक्त करो। हम सब समान हैं और हमें यह न सोचना चाहिए, 'मैं भला हूँ और तुम बुरे हो और मैं तुम्हारे पुनरुद्धार का प्रयत्न कर रहा हूँ।' साम्य भाव मुक्त पुरुष का लक्षण है। ईसा मसीह नाकेदारों और पापियों के पास गये थे और उनके पास रहे थे। उन्होंने कभी अपने को ऊँचा नहीं समझा। केवल पापी ही पाप देखता है। मनुष्य को न देखो, केवल प्रभु को देखो। हम स्वयं अपना स्वर्ग बनाते हैं और नरक में भी स्वर्ग बना सकते हैं। पापी केवल नरक में मिलते हैं, और जब तक हम उन्हें अपने चारों ओर देखते हैं – हम स्वयं वहाँ (नरक में) होते हैं। आत्मा न तो काल में है और न देश में है। अनुभव करो, 'मैं पूर्ण चित्, पूर्ण सत्, और पूर्ण आनन्द हूँ – **सोऽहमस्मि, सोऽहमस्मि।**'

जन्म पर प्रसन्न हो, मृत्यु पर प्रसन्न हो, सदैव ईश्वर के प्रेम में आनन्द मनाओ, शरीर के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करो। हम उसके दास हो गये हैं और हमने अपनी शृंखलाओं को हृदय से लगाना और अपनी दासता से प्रेम करना सीख लिया है – इतना अधिक कि हम उसे चिरन्तन करना चाहते हैं और सदा-सदा के लिए 'शरीर' के साथ चलना चाहते हैं। देह-बुद्धि से आसक्त न होना और भविष्य में दूसरा शरीर धारण करने की आशा न रखना। उन लोगों के शरीर से भी प्रेम न करो और न उनके शरीर की इच्छा करो, जो हमें प्रिय हैं। यह जीवन हमारा शिक्षक है और इसकी मृत्यु द्वारा केवल नये शरीर धारण करने का अवसर होता है। शरीर हमारा शिक्षक है किन्तु आत्मघात करना मूर्खता है, क्योंकि इससे 'शिक्षक' ही मर जाएगा और उसका स्थान दूसरा शरीर ग्रहण कर लेगा। इस प्रकार जब तक हम शरीर-बुद्धि से मुक्त होना नहीं सीख लेते, हमें उसे रखना ही होगा। अन्यथा एक को खोने पर हम दूसरा प्राप्त करेंगे। तथापि हमें शरीर से तादात्म्य भाव न रखना चाहिए, अपितु केवल एक साधन के रूप में देखना चाहिए, जिसका पूर्णता प्राप्त करने में उपयोग किया जाता है। श्रीरामभक्त हनुमानजी ने इन शब्दों में अपने दर्शन का सारांश कहा, "मैं जब देह से अपना तादात्म्य करता हूँ तो मैं आपका दास हूँ, आपसे सदैव पृथक् हूँ। जब मैं अपने को जीव समझता हूँ तो मैं उसी दिव्य प्रकाश या आत्मा की चिनगारी हूँ, जो कि आप हैं। किन्तु जब अपने को आत्मा से तदाकार करता हूँ तो मैं और आप एक ही हो जाते हैं।"*

इसलिए ज्ञानी केवल आत्मा के साक्षात्कार का ही प्रयत्न करता है और कुछ नहीं।

□□□

* देहबुद्ध्या तु दासोऽस्मि जीवबुद्ध्या त्वदंशकम्।
आत्मबुद्ध्या त्वमेवाहं इति मे निश्चिता मतिः ॥

षष्ठ प्रवचन

विचार बहुत महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि 'जो कुछ हम सोचते हैं, वही हम हो जाते हैं।' एक समय एक संन्यासी एक पेड़ के नीचे बैठता था और लोगों को पढ़ाया करता था। वह केवल दूध पीता था और फल खाता था और असंख्य प्राणायाम किया करता था। फलतः अपने को बहुत पवित्र समझता था। उसी गाँव में एक कुलटा स्त्री रहती थी। प्रति दिन संन्यासी उसके पास जाता था और उसे चेतावनी देता था कि उसकी दुष्टता उसे नरक में ले जायगी। बेचारी स्त्री अपने जीवन का ढंग नहीं बदल पाती थी, क्योंकि वही उसकी जीविका का एकमात्र उपाय था, फिर भी वह उस भयंकर भविष्य की कल्पना से सहम जाती थी, जिसे संन्यासी ने उसके समक्ष चित्रित किया था। वह रोती थी और प्रभु से प्रार्थना करती थी कि वे उसे क्षमा करें क्योंकि वह विवश थी। कालान्तर में कुलटा स्त्री और संन्यासी दोनों ही मरे। स्वर्ग-दूत आये और उसे स्वर्ग ले गये, जब कि संन्यासी की आत्मा को यमदूतों ने पकड़ा। वह चिल्लाया, "ऐसा क्यों? क्या मैंने पवित्रतम जीवन नहीं विताया है और प्रत्येक मनुष्य को पवित्र होने की शिक्षा नहीं दी है? मैं नरक में क्यों ले जाया जाऊँ, जब कि यह कुलटा स्त्री स्वर्ग ले जायी जा रही है।" यमदूतों ने उत्तर दिया, "क्योंकि जब वह अपवित्र कार्य करने को विवश थी, उसका मन सदैव भगवान् में लगा रहता था और वह मुक्ति माँगती थी, जो अब उसे मिली है। किन्तु इसके विपरीत तुम यद्यपि पवित्र कार्य ही करते थे, परन्तु अपना मन सदैव दूसरों की दुष्टता पर ही रखते थे, तुम केवल पाप देखते थे और केवल पाप का ही विचार करते थे और इसलिए अब तुम्हें उस स्थान को जाना पड़ रहा है, जहाँ केवल पाप ही पाप है।" इस कहानी की शिक्षा स्पष्ट है। बाह्य जीवन कम महत्त्व का होता

है, हृदय शुद्ध होना चाहिए और शुद्ध हृदय केवल शुभ को ही देखता है, अशुभ को कभी नहीं। हमें मनुष्य जाति के अभिभावक बनने की कभी चेष्टा न करनी चाहिए, न कभी पापियों का सुधार करनेवाले सन्त के रूप में वक्तृता-मंच पर खड़े होना चाहिए। अच्छा हो, यदि हम अपने को पवित्र करें, और फलस्वरूप हम दूसरे की यथार्थ सहायता भी करेंगे।

भौतिक विज्ञान की दोनों सीमाएँ (प्रारम्भ और अन्त) अध्यात्म विद्या द्वारा आवेष्टित हैं। यही बात तर्क के विषय में है। वह अतर्क से प्रारम्भ होकर फिर अतर्क में ही समाप्त होता है। यदि हम जिज्ञासा को इन्द्रियजन्य बोध के क्षेत्र में बहुत दूर तक ले जायँ तो हम बोध से परे के एक स्तर पर पहुँच जाएँगे। तर्क तो वास्तव में स्मृति द्वारा सुरक्षित, संगृहीत और वर्गीकृत बोध ही है। हम अपने इन्द्रिय-बोध से परे न तो कल्पना कर सकते हैं और न तर्क कर सकते हैं। तर्क से परे कोई भी वस्तु इन्द्रियज्ञान का विषय नहीं हो सकती है। हम तर्क से सीमाबद्ध रूप को अनुभव करते हैं, फिर भी वह हमें एक ऐसे स्तर पर ले जाता है, जहाँ हम उससे कुछ परे की वस्तु की भी झलक पाते हैं। तब प्रश्न उठता है कि क्या मनुष्य के पास तर्कोपरि कोई साधन है? यह बहुत सम्भव है कि मनुष्य में तर्क से परे पहुँचने का सामर्थ्य हो, वास्तव में सभी युगों में सन्तों ने अपने इस सामर्थ्य की अवस्थिति निश्चित रूप से कही है। किन्तु वस्तुओं के स्वभावानुसार आध्यात्मिक विचारों तथा अनुभव को तर्क की भाषा में अनूदित करना असम्भव है और इन सभी सन्तों ने अपने आध्यात्मिक अनुभव को प्रकट करने में अपनी असमर्थता घोषित की है। सचमुच भाषा उन्हें शब्द नहीं दे सकती, ताकि केवल यह कहा जा सके कि ये वास्तविक अनुभव हैं और सभी के द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं। केवल इसी प्रकार वे (अनुभव) जाने जा सकते हैं, किन्तु वे कभी वर्णित नहीं किये जा सकते। धर्म वह विज्ञान है जो मनुष्य में स्थित अतीन्द्रिय माध्यम से प्रकृति में स्थित अतीन्द्रिय का ज्ञान प्राप्त करता है। अब भी हम मनुष्य के विषय में बहुत कम जानते हैं, फलतः विश्व के सम्बन्ध में भी बहुत कम जानते हैं। जब हम मनुष्य

के विषय में और अधिक ज्ञान प्राप्त करेंगे, तब हम विश्व के विषय में सम्भवतः और अधिक जान जाएँगे। मनुष्य सभी वस्तुओं का सारसंग्रह है और उसमें संपूर्ण ज्ञान निहित है। विश्व के केवल उस अति क्षुद्र भाग के विषय में, जो हमारे इन्द्रिय-बोध में आता है, हम कोई तर्क ढूँढ़ सकते हैं, हम किसी मूलभूत सिद्धान्त के लिए कोई तर्क कभी नहीं उठा सकते। किसी वस्तु के लिए तर्क उठाना केवल मात्र उस वस्तु का वर्गीकरण करना और दिमाग के एक दरबे में उसे डाल लेना है। जब हम किसी नये तथ्य को पाते हैं तो हम तुरन्त उसे किसी प्रचलित प्रवर्ग में डालने की चेष्टा करते हैं और इसी प्रयत्न का नाम तर्क है। जब हम उस तथ्य को किसी वर्ग-विशेष में रख पाते हैं तो कुछ सन्तोष मिलता है, किन्तु इस वर्गीकरण के द्वारा हम भौतिक स्तर से ऊपर कभी नहीं जा सकते। मनुष्य इन्द्रियों की सीमा के परे पहुँच सकता है, यह बात प्राचीन युगों में निश्चित रूप से प्रमाणित हुई थी। ५००० वर्ष पूर्व उपनिषदों ने बताया था कि ईश्वर का साक्षात्कार इन्द्रियों द्वारा कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता। यहाँ तक तो आधुनिक अज्ञेयवाद स्वीकार करता है, किन्तु वेद इस नकारात्मक पक्ष से और परे जाते हैं और स्पष्टतम शब्दों में दृढ़ता के साथ कहते हैं कि मनुष्य इस इन्द्रियबद्ध जड़ जगत् के परे पहुँच सकता है एवं अवश्य पहुँचता है। वह मानो इस विशाल हिमराशि रूप जगत् में रन्ध्र पा सकता है और उसके द्वारा निकलकर जीवन के पूर्ण महासागर तक पहुँच सकता है। इन्द्रिय सम्बन्धी संसार का इस प्रकार अतिक्रमण करके ही वह अपने सत् स्वरूप तक पहुँच सकता है और उसका साक्षात्कार कर सकता है।

ज्ञान कभी इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं होता। हम ब्रह्म को विषयतया 'जान' नहीं सकते, किन्तु हम पूर्णतया ब्रह्म ही हैं, उसके एक खण्ड मात्र नहीं। अशरीरी वस्तु कभी विभाजित नहीं की जा सकती। आभासिक नानात्व काल और देश में दृष्टिगत होनेवाला है, जैसा हम सूर्य को लाखों ओस-विन्दुओं में प्रतिबिम्बित देखते हैं, यद्यपि हम जानते हैं सूर्य एक है, अनेक नहीं। ज्ञान में हमें नानात्व त्यागना होता है और केवल एकत्व का अनुभव करना

होता है। यहाँ विषयी, विषय, ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय, तू, वह अथवा मैं नहीं हैं, केवल एक पूर्ण एकत्व ही है! हम सदैव वही हैं। मनुष्य, कार्य-कारण द्वारा यथार्थतः 'नहीं' बँधा है। दुःख और कष्ट मनुष्य में नहीं हैं, वे तो भागते हुए बादल के समान होते हैं जो सूर्य पर अपनी परछाई डालता है। बादल हट जाता है, पर सूर्य अपरिवर्तित रहता है, और यही बात मनुष्य के विषय में है। वह उत्पन्न नहीं होता, वह मरता नहीं, वह देश और काल में नहीं है। यह सब विचार केवल मन ही के प्रतिबिम्ब हैं, किन्तु हम उन्हें भ्रमवश यथार्थ समझ लेते हैं और इस प्रकार उस महिमान्वित प्रकृत सत्य को जो विचारों से आच्छादित हुआ है, हम नहीं प्राप्त कर सकते। काल तो हमारे चिन्तन की प्रक्रिया है, परन्तु हम तो यथार्थतः नित्य वर्तमान काल ही हैं। शुभ और अशुभ का अस्तित्व केवल हमारे सम्बन्ध से है। एक के बिना दूसरा नहीं प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि दोनों में से किसी का भी दूसरे से पृथक् न तो अस्तित्व है और न अर्थ। जब तक हम द्वैतवाद को मान्यता देते हैं अथवा ईश्वर और मनुष्य को पृथक् करके मानते हैं, तब तक हमें शुभ और अशुभ – दोनों ही देखने पड़ेंगे, केवल केन्द्र में जाकर ही, केवल ईश्वर से एकीकृत होकर ही हम इन्द्रियों के मोह-जाल से बच सकते हैं।

जब हम कामना के अनन्त ज्वर को, उस अनन्त तृष्णा को, जो हमें चैन नहीं लेने देती, त्याग देंगे, जब हम सदा के लिए कामना को जीत लेंगे तब हम शुभ-अशुभ – दोनों से छूट पायेंगे, क्योंकि तब हम उन दोनों का अतिक्रमण कर जाएँगे। कामना की पूर्ति उसे केवल और अधिक बढ़ाती है, जैसे कि अग्नि में डाला हुआ घी, उसे और भी तीव्रता से प्रज्वलित कर देता है। चक्र जितना ही केन्द्र से दूर होगा, उतना ही तीव्र चलेगा, और उतना ही उसे कम विश्राम मिलेगा। केन्द्र के निकट जाओ, कामना का दमन करो, उसे निकाल बाहर करो, मिथ्या अहं को त्याग दो, तब हमारी दिव्य दृष्टि खुल जायगी और हम ईश्वर का दर्शन करेंगे, इहलौकिक और पारलौकिक जीवन के त्याग द्वारा ही हम उस अवस्था पर पहुँचेंगे, जहाँ

कि हम वास्तविक आत्म-तत्त्व पर दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित हो सकेंगे। जब तक हम किसी वस्तु की आकांक्षा करते हैं, तब तक कामना हमारा शासन करती है। केवल एक क्षण के लिए वास्तव में 'आशाहीन' हो जाओ और कुहरा साफ हो जाएगा। चूँकि जब कोई स्वयं सत्यस्वरूप है तो वह किसकी आशा करे? ज्ञान का रहस्य है सब कुछ का त्याग और स्वयं में ही परिपूर्ण हो जाना। 'नहीं' कहो, और तुम 'नहीं' रह जाओगे, और 'है' कहो तो तुम 'है' बन जाओगे। अंत:स्थ आत्मा की उपासना करो, और कुछ तो है ही नहीं; जो कुछ हमें बन्धन में डालता है, वह माया है, भ्रम-जाल है।

□□□

सप्तम प्रवचन

विश्व में आत्मा सभी का अधिष्ठान है, किन्तु वह स्वयं कभी उपाधिविशिष्ट नहीं हो सकती। जब हम जानते हैं कि 'हम वह हैं', हम मुक्त हो जाते हैं। मर्त्य के रूप में हम न कभी मुक्त थे और न हो सकते हैं। मुक्त मरणशीलता परस्परविरोधी है। क्योंकि मरणशीलता में परिवर्तन निहित है और केवल अपरिवर्तनशील ही मुक्त हो सकता है। आत्मा ही मुक्त है और वही हमारा यथार्थ सार-तत्त्व है। सभी सिद्धान्तों और विश्वासों के बावजूद, हम इस आन्तरिक मुक्ति का अनुभव करते हैं, हम उसके अस्तित्व को जानते हैं और हर कार्य यह सिद्ध करता है कि हम उसे जानते हैं। इच्छा स्वतन्त्र नहीं है, उसकी आपातदृप् स्वतन्त्रता आत्मा का एक प्रतिबिम्ब मात्र है। यदि संसार कार्य और कारण की एक अनन्त शृंखला होती तो उसके हितार्थ कोई कहाँ खड़ा होता? रक्षक को खड़े होने के लिए सूखी भूमि का एक टुकड़ा तो होना ही चाहिए, अन्यथा वह किसी को कार्यकारण रूप तीव्र धारा से खींचकर कैसे बाहर करेगा और उसे डूबने से बचायगा। वह हठधर्मी भी, जो सोचता है, मैं एक कीड़ा हूँ, समझता है कि वह एक सन्त बनने के मार्ग पर है। वह कीड़े में भी सन्त को देखता है।

मानव-जीवन के दो उद्देश्य या लक्ष्य हैं – विज्ञान और आनन्द। बिना युक्ति के ये दोनों असम्भव हैं। वे समस्त जीवन की कसौटी हैं। हमें शाश्वत एकत्व का इतना अधिक अनुभव करना चाहिए कि यह समझते हुए कि हम ही पाप कर रहे हैं, हम सभी पापियों के लिए रोयें। शाश्वत नियम आत्म-त्याग है, आत्म-प्रतिष्ठान नहीं। जब सभी एक हैं तो प्रतिष्ठान किस आत्मा का? कोई 'अधिकार' नहीं है, सभी प्रेम है। ईसा ने जिन महान् सत्यों का उपदेश दिया, उनको कभी जीवन में नहीं उतारा गया। आओ, हम उनके

मार्ग पर चलकर देखें, क्या संसार को बचाया जा सकता है या नहीं। विपरीत मार्ग ने संसार को लगभग नष्ट कर दिया है। मात्र स्वार्थहीनता ही प्रश्न को हल कर सकती हैं, स्वार्थपरता नहीं। 'अधिकार' का विचार एक सीमाकरण है। वास्तव में 'मेरा और तेरा' है ही नहीं, क्योंकि मैं तू हूँ और तू मैं है। हमारे पास 'दायित्व' है, 'अधिकार' नहीं। हमें कहना चाहिए, 'मैं विश्व हूँ', न कि 'मैं जॉन हूँ' या 'मैं मेरी हूँ'। ये समस्त सीमाएँ भ्रम-जाल हैं जो हमें बन्धन में डाले हुए हैं, क्योंकि जैसे ही मैं समझता हूँ, 'मैं जॉन हूँ' मैं कुछ वस्तुओं पर अपवर्जित विशेषाधिकार चाहता हूँ, 'मुझे' और 'मेरा' कहने लगता हूँ और ऐसा करने में निरन्तर नये भेदों का सर्जन करता जाता हूँ। इस प्रकार हर नये भेद के साथ हमारा बन्धन बढ़ता जाता है और हम केन्द्रीय एकत्व और अविभक्त असीम से दूरातिदूर होते जाते हैं। व्यक्ति तो केवल एक है और हममें से प्रत्येक वही है। केवल एकत्व ही प्रेम है और निर्भयता है, पार्थक्य हमें घृणा और भय की ओर ले जाता है। एकत्व ही नियम का प्रतिपालन करता है। यहाँ पृथ्वी पर हम छोटे-छोटे स्थानों को घेर लेने तथा अन्य लोगों को अपवर्जित करने की चेष्टा करते हैं, पर हम आकाश में ऐसा नहीं कर सकते। किन्तु सम्प्रदायवादी धर्म, जब वह यह कहता है कि 'केवल यही मुक्ति का मार्ग है और अन्य सब मिथ्या है' तो ऐसा ही करने की चेष्टा करता है। हमारा लक्ष्य इन छोटे घरौंदों को हटाने का, सीमा को इतना विस्तृत करने का है कि वह दिखायी ही न दे, और यह समझने का होना चाहिए कि सभी धर्म ईश्वर की ओर ले जाते हैं। इस छोटे तुच्छ अहं का बलिदान अवश्य होना चाहिए। बपतिस्मा के प्रतीक द्वारा एक नये जीव में इसी सत्य को लक्षित किया जाता है – पुराने आदमी की मृत्यु और नये का जन्म, मिथ्या अहं का नाश और आत्मा, विश्व की एक आत्मा का साक्षात्कार।

वेदों के दो प्रधान भाग हैं, कर्मकाण्ड – कर्म या कार्यसम्बन्धी भाग और ज्ञानकाण्ड – जानने के, सत्य ज्ञान के विषय का भाग। वेदों में हम धार्मिक विचारों के विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया प्राप्त कर सकते हैं। यह इसलिए

है कि उच्चतर सत्य की प्राप्ति होने पर, उस तक पहुँचानेवाली निम्नतर अनुभूति को भी सुरक्षित रखा गया। ऐसा ऋषियों ने यह अनुभव करके किया कि सृष्टिजन्य यह संसार शाश्वत है, अत: उसमें सदा ऐसे लोग रहेंगे जिन्हें ज्ञान के प्रथम सोपानों की आवश्यकता रहेगी; सर्वोच्च दर्शन यद्यपि सभी के लिए सुलभ है, पर सभी उसे ग्रहण तो नहीं कर सकते। प्राय: अन्य सभी धर्मों में सत्य के केवल अन्तिम अथवा उच्चतम साक्षात्कार को ही सुरक्षित रखा गया, जिसका स्वाभाविक फल यह हुआ कि प्राचीनतर धारणाएँ विलुप्त हो गयीं। नवीन को केवल थोड़े से लोग ही समझ पाते हैं और शनै:-शनै: अधिकांश जन के निकट उनका कोई अर्थ नहीं रह जाता। हम इस फल को प्राचीन परम्पराओं और अधिकारियों के विरुद्ध बढ़ते हुए विद्रोह के रूप में स्पष्ट देखते हैं। उन्हें स्वीकार करने के स्थान पर आज का मनुष्य साहसपूर्वक उन्हें चुनौती देता है कि वे अपने दावे के कारण बतायें और उन आधारों को स्पष्ट करें, जिन पर कि वे उनकी स्वीकृति की माँग करते हैं। ईसाई धर्म में बहुत कुछ तो प्राचीन मूर्तिपूजकों की आस्थाओं और रीतियों को नये नाम और अर्थ देना मात्र है। यदि प्राचीन स्रोत सुरक्षित रखे गये होते और परिवर्तन के कारणों की व्याख्या पूर्ण रूप से कर दी गयी होती तो बहुत-सी बातें अधिक स्पष्ट हो जातीं। वेदों ने पुराने विचारों को सुरक्षित रखा, और इस तथ्य ने उनकी व्याख्या तथा वे क्यों सुरक्षित रखे गये, यह स्पष्ट करने के निमित्त विशाल टीकाओं की आवश्यकता उत्पन्न कर दी। उनके अर्थ के विलुप्त हो जाने के बाद भी उनसे, पुराने रूपों से, चिपके रहने के कारण अनेक अन्धविश्वासियों की उत्पत्ति हुई। अनेक अनुष्ठानों में ऐसे शब्द दुहराये गये हैं जो कि एक विस्मृत भाषा के अवशेष हैं और जिनका अब कोई सच्चा अर्थ नहीं किया जा सकता। विकासवाद का विचार वेदों में ईसाई युग से बहुत पूर्व पाया जाता है, पर जब तक डारविन ने उसे सत्य नहीं माना, तब तक उसे केवल हिन्दू अन्धविश्वास माना जाता था!

कर्मकाण्ड में बाह्य प्रार्थना और उपासना के सभी रूप सम्मिलित हैं।

यदि इन्हें निःस्वार्थ भाव से सम्पन्न किया जाय और उन्हें मात्र रूढ़ि न बना दिया जाय तो वे उपयोगी हैं। वे हृदय को निर्मल करते हैं। कर्मयोगी स्वयं अपनी मुक्ति के पूर्व अन्य सब की मुक्ति चाहता है। उसकी मुक्ति दूसरों की मुक्ति में सहायता देने मात्र में है। 'कृष्ण के सेवकों की पूजा ही सर्वोच्च पूजा है।' एक महान् सन्त की यह प्रार्थना रहती थी, 'मैं समस्त संसार के पाप लेकर नरक में चला जाऊँ किन्तु संसार मुक्त हो जाय।' यह सच्ची पूजा तीव्र आत्म-त्याग का मार्ग दिखाती है। एक महात्मा के विषय में कहा जाता है कि वह अपने सब सद्गुण अपने कुत्ते को दे देना चाहते थे, जिससे वह स्वर्ग जा सके। वह कुत्ता दीर्घ काल तक उनका स्वामिभक्त रहा था, और वे स्वयं नरक जाने में भी सन्तुष्ट थे।

ज्ञानकाण्ड यह शिक्षा देता है कि केवल ज्ञान ही मुक्ति दे सकता है, अर्थात उसे मुक्ति प्राप्ति की पात्रता की सीमा तक ज्ञानी होना चाहिए। ज्ञान, ज्ञात का स्वयं अपने को जानना, पहला लक्ष्य है। एक मात्र विषयी आत्मा, अपने व्यक्ति रूप में केवल स्वयं को ही खोज रही है। जितना ही अच्छा दर्पण होता है, वह उतनी ही अच्छी प्रतिच्छाया प्रदान करता है। इस प्रकार मनुष्य सर्वोत्तम दर्पण है और मनुष्य जितना निर्मल होगा, उतना ही स्वच्छता से वह ईश्वर को प्रतिबिम्बित कर सकेगा। मनुष्य अपने को ईश्वर से पृथक् करने और देह से अपने को अभिन्न मानने की भूल करता है। यह भूल माया से होती है, जो एकदम भ्रम-जाल तो नहीं है, पर उसे सत्य को जैसा कि वह है वैसा न देखकर किसी अन्य रूप में देखना कहा जा सकता है। अपने को शरीर से अभिन्न मानने से असमता का मार्ग खुलता है, जिससे अनिवार्यतया ईर्ष्या और संघर्ष की उत्पत्ति होती है। और जब तक हम असमता देखते रहेंगे, हम सुख नहीं पा सकते। ज्ञान कहता है कि अज्ञान और असमता ही समस्त दुःख के स्रोत हैं।

जब मनुष्य संसार की पर्याप्त ठोकरें खा चुकता है, तब वह मुक्ति-प्राप्ति की इच्छा के प्रति जाग्रत होता है और पार्थिव अस्तित्व के निरानन्द चक्र से बचने के साधनों को खोजता हुआ वह ज्ञान खोजता है, इस बात

को जान जाता है कि वह वस्तुतः क्या है और मुक्त हो जाता है। उसके वाद वह संसार को एक विशाल यन्त्र के रूप में देखता है, किन्तु उसके चक्कों से अपनी अँगुलियों को वाहर रखने के प्रति काफी सावधान रहता है। जो मुक्त है, उसके लिए कर्तव्य समाप्त हो जाता है। मुक्त प्राणी को कौन शक्ति विवश कर सकती है? वह शुभ करता है, क्योंकि यह उसका स्वभाव है, न कि इसलिए कि कोई काल्पनिक कर्तव्य उसे आदेश देता है। यह उन पर लागू नहीं होता, जो कि अब भी इन्द्रियों के वन्धन में हैं। यह मुक्ति उसी के लिए है जो अपने निरन्तर अहं से ऊँचा उठ चुका है। वह अपनी आत्मा में ही प्रतिष्ठित है, कोई नियम नहीं मानता, स्वतन्त्र और पूर्ण है। उसने पुराने अन्धविश्वासों को उच्छिन्न कर डाला है। वह चक्र के वाहर निकल आया है। प्रकृति तो हमारे अपने स्व का दर्पण है। मनुष्य की कार्यशक्ति की एक सीमा है, किन्तु कामनाओं की नहीं; इसलिए हम दूसरों की कार्यशक्ति को हस्तगत करने का प्रयत्न करते है और स्वयं काम करने से बचकर उनके श्रम के फल का उपभोग करते हैं। हमारे निमित्त कार्य करने के लिए यन्त्रों का आविष्कार कल्याण की मात्रा में वृद्धि नहीं कर सकता, क्योंकि कामना की तुष्टि में हम केवल कामना ही पाते हैं, और तब अधिक तथा और भी अधिक की अनन्त कामना करते हैं। अतृप्त कामनाओं से भरे हुए मरने पर, उनकी परितुष्टि की निरर्थक खोज में वारम्वार जन्म लेना पड़ता है। हिन्दू कहते हैं कि मानव-शरीर पाने के पूर्व हम ८० लाख वार शरीर धारण कर चुके हैं। ज्ञान कहता है, 'कामना का हनन करो और इस प्रकार उससे छुटकारा पाओ'। यही एकमात्र मार्ग है। सभी प्रकार की कारणता को निकाल फेंको और आत्मा का साक्षात्कार करो। केवल मुक्ति ही सच्ची नैतिकता उत्पन्न कर सकती है। यदि कारण और कार्य की एक अनन्त श्रृंखला मात्र का ही अस्तित्व होता तो निर्वाण हो हां नहीं सकता था। वह तो इस शृंखला से जकड़े आभासी अहं का उच्छेद करना है। यही है वह जिससे मुक्ति का निर्माण होता है और वह है कारणता के परे जाना।

हमारा वास्तविक स्वरूप शुभ है, मुक्त है, विशुद्ध सत् है, जो न तो कभी अशुद्ध हो सकता है और न अशुद्ध कर सकता है। जब हम अपनी आँखों और मस्तिष्क से ईश्वर को पढ़ते हैं तो हम उसे यह या वह कहते हैं, पर वास्तव में केवल एक है, सभी विविधताएँ उसी एक की हमारी व्याख्या हैं। हम 'हो' कुछ भी नहीं जाते, हम अपनी वास्तविक आत्मा को पुनः प्राप्त करते हैं। बुद्ध के द्वारा दुःख को 'अविद्या और जाति' (असमता) के फल से उत्पन्न मानने के निदान को वेदान्तियों ने अपना लिया है; क्योंकि वह अब तक ऐसे किये गये प्रयत्नों में सर्वोत्कृष्ट है। उससे मनुष्यों में इस महानतम व्यक्ति की आश्चर्यजनक अन्तर्दृष्टि व्यक्त होती है। तो हम सब वीर और सच्चे बनें। जो भी मार्ग हम श्रद्धापूर्वक अपनायें निश्चय ही मुक्ति की ओर ले जायगा। शृंखला की एक कड़ी पकड़ लो और धीरे-धीरे क्रमशः पूरी शृँखला अवश्य आती जाएगी। पेड़ की जड़ को जल देने से पूरे पेड़ को जल मिलता है, हर पत्ती को जल देने में समय खराब करने से कोई लाभ नहीं। अर्थात्, हम प्रभु को खोजें और उसे पाकर हम सब पा जाएँगे। गिरजे, सिद्धान्त, रूप ये सब तो धर्म के सुकुमार पौधे की रक्षार्थ झाड़ियों के घेरों के सदृश हैं, किन्तु आगे चलकर उनको तोड़ना ही पड़ेगा, जिससे वह छोटा पौधा पेड़ बन सके। इस प्रकार विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय, धर्मग्रन्थ, वेद और धर्म-शास्त्र इस छोटे पौधे के केवल 'गमले' मात्र हैं; किन्तु उसे गमले से निकालना और संसार को भरना ही होगा।

जैसे हम अपने को यहाँ अनुभव करते हैं, वैसे ही सूर्य और नक्षत्रों में अनुभव करना हमें सीखना चाहिए। आत्मा तो देशकाल से परे है, हर देखनेवाली आँख मेरी है, प्रभु की स्तुति करनेवाला प्रत्येक मुख मेरा मुख है, हर पापी मैं हूँ। हम कहीं भी परिसीमित नहीं हैं, हम शरीर नहीं हैं। विश्व हमारा शरीर हैं। हम तो केवल वह शुद्ध स्फटिक हैं, जो अन्य सभी को प्रतिबिम्बित करता है, किन्तु स्वयं सदैव वही रहता है। हम तो जादूगर हैं जो जादू के डण्डे हिलाते हैं और इच्छानुसार अपने समक्ष दृश्य प्रस्तुत कर लेते हैं, किन्तु हमें इन आभासों के पीछे जाना है और आत्मा को जानना

है। यह संसार एक ऐसी बटलोई में जल के समान है जो उबलनेवाली हो। उसमें पहले एक बुलबुला उठता है, फिर दूसरा और फिर बहुतसे, और अन्ततः सब उबल उठता और बाष्प-रूप में निकल जाता है। महान् धर्मोपदेशक आरम्भ में उठनेवाले बुलबुलों के रूप में होते हैं, एक यहाँ, एक वहाँ; किन्तु अन्त में हर जीव को बुलबुला होना है और निकल भागना है। नित्य नूतन सृष्टि नया जल लाती रहेगी और सारी प्रक्रिया की आवृत्ति फिर होगी। बुद्ध और ईसा संसार द्वारा ज्ञात दो महत्तम 'बुलबुले' हैं। वे महान् आत्माएँ थीं, जिन्होंने स्वयं मुक्ति प्राप्त करके, दूसरों को बच निकलने में सहायता दी। दोनों में से कोई पूर्ण नहीं था, किन्तु उन पर निर्णय उनके गुणों से करना है, उनकी कमियों से नहीं। ईसा कुछ छोटे पड़ते हैं, क्योंकि सदैव अपने सर्वोच्च आदर्श के अनुरूप नहीं रह सके और सब से अधिक इसलिए कि उन्होंने स्त्री को पुरुष के साथ बराबर स्थान नहीं दिया। स्त्री ने इनके लिए सब कुछ किया, किन्तु एक को भी धर्मदूत नहीं बनाया गया। उनका सेमेटिक होना ही निस्सन्देह इसका कारण था। महान् आर्यों ने तथा शेष में बुद्ध ने स्त्री को सदैव पुरुष के बराबर स्थान में रखा है। उनके लिए धर्म में लिंगभेद का अस्तित्व न था। वेदों और उपनिषदों में स्त्रियों ने सर्वोच्च सत्यों को शिक्षा दी है और उनको वही श्रद्धा प्राप्त हुई है, जैसी कि पुरुषों को।

□□□

अष्टम प्रवचन

सुख और दुःख दोनों ही जंजीरें हैं, एक स्वर्णिम और दूसरी लौह; किन्तु दोनों ही हमें बांधने के लिए एक समान दृढ़ हैं और अपने वास्तविक स्वरूप के साक्षात्कार करने में हमें रोकती हैं। आत्मा दुःख या सुख नहीं जानती। ये तो केवल स्थितियाँ है और स्थितियाँ अवश्य सदैव वदलती रहती हैं। आत्मा का स्वभाव आनन्द और अपरिवर्तनीय शान्ति है। हमें इसे 'पाना' नहीं है, वह हमें 'प्राप्त' है। आओ, हम अपनी आँखों से कीचड़ धो डालें और उसे देखें। हमें आत्मा में सदैव प्रतिष्ठित रहकर पूर्ण शान्ति के साथ संसार की दृश्यावली को देखना चाहिए। वह तो केवल शिशु का खेल मात्र है और उससे हमें कभी क्षुब्ध न होना चाहिए। यदि मन प्रशंसा से प्रसन्न हो तो वह निन्दा से दुःखी होगा। इन्द्रियों के या मन के भी सभी आनन्द क्षणभंगुर हैं, किन्तु हमारे अन्तर में एक सच्चा असम्बद्ध आनन्द है, जो किसी बाह्य वस्तु पर निर्भर नहीं है। 'यह आत्मा का आनन्द ही है, जिसे संसार धर्म कहता है।' जितना ही अधिक हमारा आनन्द हमारे अन्तर में होगा, उतने ही अधिक हम आध्यात्मिक होंगे। हम आनन्द के लिए संसार पर निर्भर न हों।

कुछ दीन मछुआ स्त्रियों ने भीषण तूफ़ान में फँसकर एक सम्पन्न व्यक्ति के बगीचे में शरण पायीं। उसने उनका दयापूर्वक स्वागत किया, उन्हें भोजन दिया और जिनके सुवास से वायुमण्डल परिपूर्ण था, ऐसे पुष्पों से घिरे हुए एक सुन्दर ग्रीष्मवास में विश्राम करने के लिए छोड़ दिया। स्त्रियाँ इस सुगन्धित स्वर्ग में लेटीं तो, किन्तु सो न सकीं। उन्हें अपने जीवन से कुछ खोया हुआ-सा जान पड़ा और उसके विना वे सुखी न हो सकीं। अन्त में एक स्त्री उठी और उस स्थान को गयी जहाँ कि वे अपनी मछली की टोकरियाँ

छोड़ आयी थीं। वे उन्हें ग्रीष्मवास में ले आयीं और तव एक वार फिर परिचित गन्ध से सुखी होकर वे सब शीघ्र ही गहरी नींद में सो गयीं।

संसार मछली की हमारी वह टोकरी न वन जाय, जिस पर हमें आनन्द के लिए निर्भर होना पड़े। यह तामसिक या तीनों (गुणों) में से निम्नतम द्वारा बँधना है। इनके बाद वे अहंवादी आते हैं जो सदैव 'मैं', 'मैं' की बात करते हैं। कभी-कभी वे अच्छा काम करते हैं और आध्यात्मिक वन सकते हैं। ये राजसिक या सक्रिय हैं। सर्वोच्च अन्तर्मुख स्वभाववाले (सात्त्विक) हैं, जो आत्मा में ही रहते हैं। ये तीन गुण हर मनुष्य में भिन्न अनुपात में हैं और विभिन्न गुण विभिन्न अवसरों पर प्रधानता प्राप्त करते हैं। हमें तमस् और रजस् को जीतने का और तव उन दोनों को सत्त्व में मिला देने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिए।

सृष्टि कुछ 'वना देना' नहीं है, वह तो सम-संतुलन को पुनः प्राप्त करने का एक संघर्ष है, जैसे किसी कार्क के परमाणु एक जलपात्र की पेंदी में डाल दिये जाने पर, वे पृथक्-पृथक् और गुच्छों में ऊपर की ओर झपटते हैं और जब सब ऊपर आ जाते हैं और सम-संतुलन पुनः प्राप्त हो जाता है तो समस्त गति या 'जीवन' एक हो जाता है। यही बात सृष्टि की है; यदि सम-सन्तुलन प्राप्त हो जाय तो सब परिवर्तन रुक जाएँगे। जीवन नामधारी वस्तु समाप्त हो जाएगी। जीवन के साथ अशुभ अवश्य रहेगा, क्योंकि सन्तुलन पुनः प्राप्त हो जाने पर संसार अवश्य समाप्त हो जाएगा, क्योंकि समत्व और नाश एक ही वात है। सदैव बिना दुःख के आनन्द ही पाने की कोई सम्भावना नहीं है। या बिना अशुभ के शुभ पाने की, क्योंकि जीवन स्वयं ही तो खोया हुआ सम-सन्तुलन है। जो हम चाहते हैं, वह मुक्ति है, जीवन आनन्द या शुभ नहीं। सृष्टि शाश्वत है, अनादि, अनन्त, एक असीम सरोवर में सदैव गतिशील लहर। उसमें अब भी ऐसी गहराइयाँ हैं, जहाँ कोई नहीं पहुँचा और जहाँ अब ऐसी निस्पन्दता पुनः स्थापित हो गयी है; किन्तु लहर सदैव प्रगति कर रही है, सन्तुलन पुनः स्थापित करने का संघर्ष शाश्वत है। जीवन और मृत्यु उसी तथ्य के विभिन्न

नाम हैं, वे एक सिक्के के दो पक्ष हैं। दोनों ही माया हैं, एक विन्दु पर जीवित रहने के प्रयत्न की अगम्य स्थिति और एक क्षण बाद मृत्यु। इस सब से परे सच्चा स्वरूप है, आत्मा। हम सृष्टि में प्रविष्ट होते हैं और तब वह हमारे लिए जीवन्त हो जाती है। वस्तुएँ स्वयं तो मृत हैं, केवल हम उन्हें जीवन देते हैं; और तब मूर्खों के सदृश हम घूमते हैं और या तो उनसे डरते हैं या उनका उपभोग करते हैं। संसार न तो सत्य है न असत्य, वह सत्य की छाया है।

कवि कहता है कि 'कल्पना सत्य की स्वर्णाच्छादित छाया' है। आभ्यन्तर जगत, सत्य जगत् वाह्य से असीम रूप से बड़ा है। वाह्य जगत् तो वास्तविक जगत् का छायात्मक प्रक्षेप मात्र है। जब हम 'रस्सी' देखते हैं, 'सर्प' नहीं देखते; और जब 'सर्प' होता है, 'रस्सी' नहीं होती; दोनों का अस्तित्व एक साथ नहीं हो सकता। इसी प्रकार जब हम संसार देखते हैं, हम आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर पाते, वह केवल एक बौद्धिक कल्पना रहती है। ब्रह्म के साक्षात्कार में व्यक्तिगत अहं और संसार की सब चेतना नष्ट हो जाती है। प्रकाश अन्धकार को नहीं जानता, क्योंकि उसका प्रकाश में कोई अस्तित्व नहीं है; इसी प्रकार ब्रह्म ही सब है। जब हम किसी ईश्वर को मानते हैं तो वास्तव में वह हमारी अपनी आत्मा ही होती है, जिसे हम अपने से पृथक् कर देते हैं और उसकी इस प्रकार पूजा करते हैं, जैसे कि वह हमसे बाहर हो; किन्तु वह सदैव हमारी अपनी आत्मा ही होती है, तथा वही एक और अद्वितीय ईश्वर है। पशु का स्वभाव, जहाँ वह है, वहीं रहने का है; मनुष्य का शुभ खोजने और अशुभ से बचने का, और ईश्वर का न तो खोजने का और न बचने का, अपितु सदैव आनन्दमय रहने का है। आओ, हम ईश्वर बनें, हम अपने हृदय महासागर जैसे बनायें, ताकि हम संसार की छोटी-छोटी बातों से परे जा सकें और उसे केवल एक चित्र की भाँति देखें। तब हम इससे बिना किसी प्रकार प्रभावित हुए इसका आनन्द ले सकेंगे। संसार में शुभ को क्यों खोजें, हम वहाँ क्या पा सकते हैं? सर्वोच्च वस्तुएँ जो वह दे सकता है, उन काँच की गोलियों के समान हैं,

जो बच्चे कीचड़ के पोखरे में खेलते हुए पा जाते हैं। वे उन्हें फिर खो देते हैं और तब नये सिरे से उन्हें अपनी खोज प्रारम्भ करनी होती है। असीम शक्ति ही धर्म और ईश्वर है। यदि हम मुक्त हों, तभी हम आत्मा हैं; अमरता केवल तभी है, जब कि हम मुक्त हों; ईश्वर तभी है, जब वह मुक्त हो।

जब तक हम अहं भाव द्वारा निर्मित संसार का त्याग नहीं करते, हम स्वर्ग के राज्य में कभी प्रविष्ट नहीं हो सकते। न तो कभी कोई प्रविष्ट हुआ, न कोई कभी होगा। संसार के त्याग का अर्थ है, अहं भाव को पूर्णतया भूल जाना, उसे बिल्कुल न जानना; शरीर में रहना, पर उसके द्वारा शासित न होना। इस दुष्ट अहं भाव को अवश्य ही मिटाना होगा। मनुष्य जाति की सहायता करने की शक्ति उन शान्त व्यक्तियों के हाथ में हैं, जो केवल जीवित हैं और प्रेम करते हैं तथा जो अपना व्यक्तित्व पूर्णतः पीछे हटा लेते हैं। वे 'मेरा' या 'मुझे' कभी नहीं कहते, वे दूसरों की सहायता करने में, उपकरण बनने में ही धन्य हैं। वे पूर्णतया ईश्वर से अभिन्न हैं, न तो कुछ माँगते हैं और न सचेतन रूप से कोई काम करते हैं। वे सच्चे जीवन्मुक्त हैं, पूर्णतः स्वार्थरहित; उनका छोटा व्यक्तित्व पूर्णतया उड़ गया होता है, महत्त्वाकांक्षा का अस्तित्व नहीं रहता। वे व्यक्तित्वरहित पूर्णतया तत्त्व मात्र हैं। जितना अधिक हम छोटे-से अहं को डुबाते हैं, उतना ही अधिक ईश्वर आता है। आओ, हम इस छोटे-से अहं से छुटकारा लें और केवल बड़े अहं को अपने में रहने दें। हमारा सर्वोत्तम कार्य और सर्वोच्च प्रभाव तब होता है, जब हम अहं के विचार मात्र से रहित हो जाते हैं। केवल निष्काम लोग ही बड़े-बड़े परिणाम घटित करते हैं। जब लोग तुम्हारी निन्दा करें तो उन्हें आशीर्वाद दो। सोचो तो, वे झूठे अहं को निकाल बाहर करने में सहायता देकर कितनी भलाई कर रहे हैं। यथार्थ आत्मा में दृढ़ता से स्थिर होओ, केवल शुद्ध विचार रखो और तुम उपदेशकों की एक पूरी सेना से अधिक काम कर सकोगे। पवित्रता और मौन से शक्ति की वाणी निकलती है।

□□□

नवम प्रवचन

अभिव्यक्ति अनिवार्य विकृति है, क्योंकि आत्मा केवल 'अक्षर' से व्यक्त की जा सकती है और जैसा कि सन्त पाल ने कहा था, 'अक्षर' हत्या कर डालता है। अक्षर केवल प्रतिच्छाया मात्र है, उसमें जीवन नहीं हो सकता। तथापि 'जाना' जाने के निमित्त तत्त्व को भौतिक जामा पहनाना आवश्यक है। हम आवरण में ही वास्तविक को दृष्टि से खो बैठते हैं और उसे प्रतीक के रूप में मानने के स्थान पर उसी को वास्तविक समझने लगते हैं। यह लगभग एक विश्वव्यापी भूल है। प्रत्येक महान् धर्मोपदेशक यह जानता है और उससे सावधान रहने का प्रयत्न करता है, किन्तु साधारणतया मानवता अदृष्ट की अपेक्षा दृष्ट की पूजा करने को अधिक उन्मुख रहती है। इसीलिए व्यक्तित्व के पीछे निहित तत्त्व की ओर बारम्बार इंगित करके और उसे समय के अनुरूप एक नया आवरण देने के लिए पैगम्बरों की परम्परा संसार में चली आयी है। सत्य सदैव अपरिवर्तित रहता है, किन्तु उसे एक 'रूपाकार' में ही प्रस्तुत किया जा सकता है, इसलिए समय-समय पर सत्य को एक ऐसा नया रूप या अभिव्यक्ति दी जाती है जिसे मानव जाति अपनी प्रगति के फलस्वरूप ग्रहण करने में समर्थ होती है। जब हम अपने को नाम और रूप से मुक्त कर लेते हैं, विशेषतया जब हमें अच्छे या बुरे, सूक्ष्म या स्थूल, किसी भी प्रकार के शरीर की आवश्यकता नहीं रह जाती, तभी हम बन्धन से छुटकारा पाते हैं। शाश्वत प्रगति शाश्वत बन्धन होगी। हमें समस्त विभेदीकरण से परे होना ही होगा और शाश्वत एकत्व या एकरूपता अथवा ब्रह्म तक पहुँचना ही होगा। आत्मा सभी व्यक्तियों की एक है और अपरिवर्तनीय है – 'एक और अद्वितीय है।' वह जीवन नहीं है, अपितु वह जीवन में रूपान्तरित कर ली जाती है। वह जीवन और मृत्यु, शुभ और अशुभ से परे है। वह निरपेक्ष एकता है। नरक के बीच भी सत्य को

खोजने का साहस करो। नाम और रूप की, सापेक्ष की मुक्ति कभी यथार्थ नहीं हो सकती। कोई रूप नहीं कह सकता 'मैं रूप की स्थिति में मुक्त हूँ।' जब तक रूप का सम्पूर्ण भाव नष्ट नहीं होता, मुक्ति नहीं आती। यदि हमारी मुक्ति दूसरों पर आघात करती हैं तो हम मुक्त नहीं हैं। हमें दूसरों को आघात नहीं पहुँचाना चाहिए। वास्तविक अनुभव केवल एक होता है, किन्तु सापेक्ष अनुभव अवश्य ही अनेक होते हैं। समस्त ज्ञान का स्रोत हममें से प्रत्येक में है – चींटी में तथा सर्वोच्च देवदूत में। वास्तविक धर्म एक है, सारा झगड़ा रूपों का, प्रतीकों का और दृष्टान्तों का है। सतयुग खोज लेनेवालों के लिए सतयुग पहले से ही विद्यमान है। सत्य यह है कि हमने अपने को खो दिया है और संसार को खोया हुआ समझते हैं। 'मूर्ख! क्या तू नही सुनता? तेरे अपने ही हृदय में रात-दिन वह शाश्वत संगीत हो रहा है, सच्चिदानन्दः सोऽहम्, सोऽहम्!'

मनोकल्पना को वर्जित करके विचार करना असम्भव को सम्भव बनाना है। हर विचार के दो भाग होते हैं, विचारणा और शब्द, हमें दोनों की आवश्यकता है। जगत् की व्याख्या न तो आदर्शवादी (Idealist) कर पाते हैं, न भौतिकवादी। इसके लिए हमें विचार और अभिव्यक्ति दोनों को लेना होगा। समस्त ज्ञान प्रतिबिम्बित का ज्ञान है, जैसे हम अपने ही मुख को एक दर्पण में प्रतिबिम्बित देखते हैं। अतः कोई अपनी आत्मा या ब्रह्म को नहीं जान सकता, किन्तु प्रत्येक वही आत्मा है और उसे ज्ञान का विषय बनाने के लिए, उसे उसको प्रतिबिम्बित देखना आवश्यक है। अदृश्य तत्त्व के चित्रों का यह दर्शन ही तथाकथित मूर्ति-पूजा की ओर ले जाता है। मूर्तियों या प्रतिमाओं का क्षेत्र जितना समझा जाता है, उससे कहीं अधिक विस्तृत है। लकड़ी और पत्थर से लेकर वे ईसा या बुद्ध जैसे महान् व्यक्तियों तक फैली हैं। भारत में प्रतिमाओं का प्रारम्भ बुद्ध द्वारा एक वैयक्तिक ईश्वर के विरुद्ध किए गए अनवरत प्रचार का परिणाम है। वेदों में प्रतिमाओं की चर्चा भी नहीं है, किंतु स्रष्टा और सखा के रूप में ईश्वर के लोप की प्रतिक्रिया ने महान् धर्मोपदेशकों की प्रतिमाएँ निर्मित करने का मार्ग दिखलाया और बुद्ध स्वयं मूर्ति बन गये, जिनकी करोड़ों लोग पूजा करते हैं। सुधार के

दुर्धर्ष प्रयत्नों का अन्त सदैव सच्चे सुधार को अवरुद्ध करने में होता है। उपासना करना, हर मनुष्य के स्वभाव में अन्तर्निहित है; केवल उच्चतम दर्शन शास्त्र ही विशुद्ध अमूर्त विचारणा तक पहुँच सकता है। इसलिए अपने ईश्वर की पूजा करने के लिए मनुष्य उसे सदैव एक व्यक्ति का रूप देता रहेगा। जब तक प्रतीक की पूजा – वह चाहे जो कुछ हो – उसके पीछे स्थित ईश्वर के प्रतीक रूप में होती है, स्वयं प्रतीक की और प्रतीक के लिए ही नहीं, वह बहुत अच्छी चीज है। सर्वोपरि हमें अपने को, किसी बात पर, केवल इसलिए कि वह ग्रन्थों में है, विश्वास करने के अन्धविश्वास से मुक्त करने की आवश्यकता है। हर वस्तु – विज्ञान, धर्म, दर्शन तथा अन्य सब को, जो किसी पुस्तक में लिखा हो उसके समरूप बनाना एक भीषणतम अत्याचार है। ग्रन्थ-पूजा मूर्ति-पूजा का निकृष्टतम रूप है। एक बारहसिंगा था, गर्वीला और स्वतन्त्र। एक राजा के सदृश उसने अपने बच्चे से कहा, "मेरी ओर देखो, मेरे शक्तिशाली सींग देखो, एक चोट से मैं आदमी मार सकता हूँ। बारहसिंगा होना कितना अच्छा है।" ठीक तभी आखेटक के बिगुल की ध्वनि दूर पर सुनायी पड़ी और बारहसिंगा अपने चकित बच्चे द्वारा अनुचरित एकदम भाग पड़ा। जब वे एक सुरक्षित स्थान पर पहुँच गये तो उसने पूछा, "हे मेरे पिता, जब तुम इतने बलवान और वीर हो तो तुम मनुष्य के सामने से क्यों भागते हो?" बारहसिंगे ने उत्तर दिया, "मेरे बच्चे, मैं जानता हूँ कि मैं बलवान और शक्तिशाली हूँ, किन्तु जब मैं वह ध्वनि सुनता हूँ तो मुझ पर कुछ ऐसा छा जाता है, जो मुझे भगाता है, मैं चाहूँ या न चाहूँ।" ऐसा ही हमारे साथ है। हम ग्रन्थों में वर्णित नियमों के 'बिगुल की ध्वनि' सुनते हैं, आदतें और पुराने अन्धविश्वास हमें जकड़े रहते हैं; इसका ज्ञान होने के पूर्व ही हम दृढ़ता से बँध जाते हैं और अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाते हैं जो कि मुक्ति है।

ज्ञान का अस्तित्व शाश्वत है। जो व्यक्ति किसी आध्यात्मिक सत्य को खोज लेता है, उसे हम 'ईश्वर-प्रेरित' कहते हैं और जो कुछ वह संसार में लाता है, वह दिव्य ज्ञान या श्रुति है। किन्तु श्रुति भी शाश्वत है और उसका अन्तिम रूप निर्धारित करके उसका अन्धानुसरण नहीं किया जा

सकता। दिव्य ज्ञान की उपलब्धि ऐसे हर व्यक्ति को हो सकती है, जिसने अपने को उसे पाने के योग्य बना लिया हो। पूर्ण पवित्रता सब से आवश्यक बात है; क्योंकि 'पवित्र हृदयवाला ही ईश्वर के दर्शन पा सकेगा।' समस्त प्राणियों में मनुष्य सर्वोच्च है, और यह जगत् सब से महान्, क्योंकि यहाँ मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है। ईश्वर की जो सर्वोच्च कल्पना हम कर सकते हैं, वह मानवीय है, जो भी गुण हम उसमें आरोपित करते हैं, वे मनुष्य में हैं, – केवल अल्प परिमाण में। जब हम ऊँचे उठते हैं और ईश्वर की इस कल्पना से निकलना चाहते हैं, हमें शरीर, मन और कल्पना के बाहर निकलना पड़ता है और इस जगत् को दृष्टि से परे करना होता है। जब हम ब्रह्म होने के लिए ऊँचे उठते हैं, हम संसार में नहीं रह जाते; सभी कुछ विषयरहित विषयी हो जाता है। जिस एकमात्र संसार को हम जान सकते हैं, मनुष्य उसका शिखर है। जिन्होंने एकत्व या पूर्णता प्राप्त कर ली है, 'उनको ईश्वर में निवास करनेवाला' कहा जाता है। समस्त घृणा 'स्वयं का स्वयं द्वारा हनन' है। अत: प्रेम ही जीवन का धर्म है। इस भूमिका तक उठना पूर्ण होना है, किन्तु जितने ही अधिक 'पूर्ण' हम होंगे, उतना ही कम काम हम कर सकेंगे। सात्त्विक जानते हैं कि यह संसार केवल बच्चों का खेल है और उसके विषय में चिन्ता नहीं करते। जब हम दो पिल्लों को लड़ते और एक दूसरे को काटते हुए देखते हैं तो हम बहुत उद्विग्न नहीं होते। हम जानते हैं यह कोई गम्भीर बात नहीं है। पूर्ण व्यक्ति जानता है, यह संसार माया है। जीवन ही संसार कहा जाता है – वह हम पर क्रिया करनेवाली परस्पर विरोधी शक्तियों का परिणाम है। भौतिकवाद कहता है, 'मुक्ती की ध्वनि एक भ्रम मात्र है'; आदर्शवाद (idealism) कहता है, 'जो ध्वनि बन्धन के विषय में कहती है, स्वप्न मात्र है।' वेदान्त कहता है, 'हम एक ही साथ मुक्त हैं और मुक्त नहीं भी।' इसका अर्थ यह होता है कि हम पार्थिव स्तर पर कभी मुक्त नहीं होते, किन्तु आध्यात्मिक पक्ष में सदैव मुक्त हैं। आत्मा मुक्ति और बन्धन दोनों से परे है। हम ब्रह्म हैं, हम अमर ज्ञान हैं, इन्द्रियों से परे हैं, हम पूर्ण परमानन्द हैं।

□□□

ज्ञानसाधना

पहले, ध्यान निषेधात्मक प्रकार का होना चाहिए। हर वस्तु को विचारों से निकाल वाहर करो! मन में आनेवाली हर वस्तु का मात्र इच्छा की क्रिया द्वारा विश्लेषण करो।

तदुपरान्त आग्रहपूर्वक उसकी स्थापना करो, जो हम वस्तुत: हैं – सत्, चित्, आनन्द और प्रेम।

विषय और विषयी के एकीकरण का साधन है – ध्यान। ध्यान करो :

ऊपर वह मुझसे परिपूर्ण है, नीचे वह मुझसे परिपूर्ण है, मध्य में वह मुझसे परिपूर्ण है। मैं सब प्राणियों में हूँ और सब प्राणी मुझमें हैं। ॐ तत् सत्, मैं वह हूँ। मैं मन के ऊपर की सत्ता हूँ। मैं विश्व की एकात्मा हूँ। मैं न सुख हूँ न दु:ख।

शरीर खाता है, पीता है इत्यादि। मैं शरीर नहीं हूँ। मैं मन नहीं हूँ। मैं वह हूँ। मैं द्रव्य हूँ। मैं देखता जाता हूँ। जब स्वास्थ्य आता है, तब मैं द्रष्टा होता हूँ। जब रोग आता है, तब भी मैं द्रष्टा होता हूँ।

मैं ज्ञान का अमृत और सार-तत्त्व हूँ। चिरन्तन काल तक मैं परिवर्तित नहीं होता। मैं शान्त, देदीप्यमान और अपरिवर्तनीय हूँ।

□□□

इन्द्रियों के या मन के भी सभी आनन्द क्षणभंगुर हैं,
किन्तु हमारे अन्तर में एक सच्चा असम्बद्ध आनन्द है,
जो किसी बाह्य वस्तु पर निर्भर नहीं है ।
"यह आत्मा का आनन्द ही है, जिसे संसार धर्म कहता है ।'
जितना ही अधिक हमारा आनन्द हमारे अन्तर में होगा,
उतने ही अधिक हम आध्यात्मिक होंगे ।

- स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य

तथा अन्य आध्यात्मिक प्रकाशन

प्राप्त करने के लिए लिखें

रामकृष्ण मठ (प्रकाशन विभाग)
रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर - ४४० ०१२

e-mail - rkm.nagpur@rkmpbngp.org
www.rkmathnagpur.org

(H-068) Gyanyog par Pravachan : ₹ 12.00